# सिद्धयोग

अप्रैल-मई १९९१

वर्ष २४

अंक १,२

...द्द गुफा प्रकाशन
सँवाई, आगरा

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
सवाई, आगरा

सम्पादक :
श्री 'दिव्य'

अप्रेल, मई
१९९१

# इस अंक में पढ़िए


★ हमें निर्भय कर दो (प्रार्थना) .... १
★ निष्काम कर्म (विशेष लेख) .... २
—ब्रह्मलीन योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज
★ हम और हमारा गुरुधाम (सम्पादकीय) .... ५
★ चित्त वृत्तियाँ और उनका परिणमन .... ६
—ब्र० रामलाल शर्मा
★ योगिराज श्री चन्द्रमोहनजी महाराज .... १२
—श्री सेवतीलाल शर्मा एडवोकेट
★ योग ऐश्वर्यों के धनी—पवनपुत्र हनुमान् .... १३
—डॉ० हरिमोहन लाल
★ दिव्य जीवन गाथा .... १७
—श्री श्यामलाल बंसल "श्याम"
★ ईश्वर प्रणिधान अथवा भक्तियोग .... १९
—श्री पूर्णचन्द शास्त्री
★ महाभारत में शक्तिपातोपाख्यान .... २४
—डॉ० विजयसिंह
★ माया के धोखे से बचो .... २७
—श्री विष्णुप्रसाद व्यास
★ प्रेम योग की धारा .... ३१
—श्री कृष्णकान्त शर्मा
★ आत्मा निर्मोही भवेत् .... ३३
—श्री राजेन्द्र प्रसाद पाठक
★ सन्त ज्ञानदेव-चिन्तन .... ३५
★ परमात्मा की पहचान और उसकी प्राप्ति .... ३७
—आचार्य श्री रामदास
★ योग की शिक्षा क्यों ? —नारायण स्वामी .... ४१
★ समाज रचना का वैदिक दृष्टिकोण .... ४३
—डॉ० वीरेन्द्र बहादुर सिंह
★ रमता जोगी बहता पानी .... ४५


वार्षिक मूल्य ४५ रुपया। एक अंक का ६ रुपया।

# सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र
श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सराँई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष २४
अङ्क १, २

अप्रैल-मई
१९९१

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मुरयोमुं व विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणाना भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

## हमें निर्भय कर दो

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्यः, अभयं नः पशुभ्यः ॥

यजु० ३६/२२

हम किसी भी घटना से, किसी भी स्थान में, किसी भी काल में क्यों डरते हैं ? वास्तव में डरने का कहीं भी कोई कारण नहीं है। फिर हे परमेश्वर ! हम इसलिए डरते हैं क्योंकि हम तुम्हें भूल जाते हैं, क्योंकि हम सदा सर्वत्र सब घटनाओं में तुम्हारा हाथ नहीं देखते। यदि हम संसार की सब घटनाओं को तुमसे 'सचेष्टित' देखें, तुम्हारे द्वारा की गई; तुम्हारे द्वारा सम्यक्तया की गई देखें तो हम कभी भी भयभीत न होवें। तुम तो परम मङ्गलकारी हो; सम्यक् रूपेण चेष्टा करने वाले हो, सदा सबका कल्याण ही करने वाले हो. इसलिए हे प्रभो ! तुम जहाँ-जहाँ से चेष्टा करते हो, जिस-जिस स्थान, काल व कर्म से अपना संचेष्टन करते हो, वहाँ-वहाँ से हमें अभय कर दो, वहाँ-वहाँ से हमें बिलकुल निर्भयता ला दो। पर तुम कहाँ संचेष्टन नहीं कर रहे हो ? तुम किस जगह नहीं जाग रहे हो ? यानी तुम सर्वत्र ही सब काल में हो।

विशेष लेख :

ब्रह्मलीन योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

# निष्काम कर्म

मनुष्य के जीवन में कर्म-बन्धन एक ऐसा बन्धन है जिसके कारण वह जन्म और मरण के चक्कर में अनन्त काल तक पड़ा रहता है। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है—

अवश्यमेव भोक्तव्यम् कृतं कर्म शुभाशुभम्।

मनुष्य के जीवन में जितने शुभ और अशुभ कर्म होते हैं, उनका फल उसे अवश्य ही भोगना पड़ता है। आज वे जिन कर्मों का फल भोग रहे हैं, और यह कर्मफल भोगते हुए जिन-जिन प्राणियों का मेल-मिलाप उससे होता है, यह प्रक्रिया और भी नये-नये कर्मजाल को पैदा कर देती है। यही कारण होता है कि मनुष्य को फल-भोग के लिए यहाँ बार-बार जन्म लेना पड़ता है तथा यही एक विशेष कारण रहता है कि मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर से नहीं निकल पाता। किसी के प्रति भी अच्छा या बुरा किसी भी प्रकार का संस्कार जो बनता है, कालान्तर में वही संस्कार कर्म का रूप धारण कर जन्म का दाता बन जाया करता है और जन्म लेने के बाद फिर जिन प्राणियों के बीच में जन्म लिया है उनके प्रति प्यार, राग-द्वेष आदि कर्म समूह को पैदा करके उसके फलस्वरूप बार-बार जन्म लेता और बार-बार मरता रहता है। इससे छुटकारा पाने के लिए वेद भगवान् का उपदेश है :—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेत् शतं समाः एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।

अर्थात् मनुष्य को सौ वर्ष के जीवन के अन्दर कर्म करते हुए जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार से कर्मरत रहने पर मनुष्य कर्मजाल के ऊपर उठ जायेगा। और कर्म फलभोग के लिए उससे लिपायमान नहीं होगा।

प्रकारान्तर से यही बात अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने निष्काम कर्मयोग के रूप में कह डाली है। यदि अखिलात्मा के ही इस उपदेश को मनुष्य अपने जीवन में धारण कर ले तो वह अवश्य ही कर्म-बन्धन से परे हो जावेगा। अर्जुन को उपदेश देते हुए भगवान ने उसे कर्म करने की बार-बार आज्ञा प्रदान की है। भगवान का कथन है—

कुरु कर्मैव तस्मात्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।

अर्थात्—हे अर्जुन तू कर्म कर जैसा कि पहले ऋषि-मुनियों ने भी किया है। किन्तु इस पर ध्यान रख कि—

गहना कर्मणो गतिः

'बड़ी गहन गति होती है कर्म की।' इस गहन गति को जान लिया जिसने उसने छुटकारा पा लिया भव-बन्धन से। श्रद्धेय गुरुदेवजी इसी मर्मको प्रसमाण समझाने का प्रयास कर रहे हैं अपने इस लेख में।

निष्काम-भाव से कर्मयोग की प्रवृत्ति बना लेना ही भव-बन्धन से छूटने का एकमात्र उपाय है, यही सार है गुरुवर के इस लेख का जिसे 'सिद्धयोग' के पाठकों को हृदयङ्गम करना है। —सम्पादक

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यम् बोद्धव्यम् च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यम् गहना कर्मणो गतिः ॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥

अर्थात्—कर्म क्या है ? और अकर्म क्या है इस बात का निर्णय निकालने के लिए बड़े-बड़े विद्वान भी संशयग्रस्त होकर मोहित हो गये हैं । इसलिए हे अर्जुन मैं तुझे कर्म तत्व बतलाता हूँ जिसको जान करके तू सब प्रकार के पापों से छूट जायेगा । तू भली प्रकार से मन लगाकर कर्म को समझ ले । क्योंकि कर्म की गति बहुत गहन है । सहज ही जानी नहीं जा सकती । वह मनुष्य बुद्धिमान है जो कर्म के अन्दर अकर्म को देखे और अकर्म के अन्दर कर्म को देखे । जो व्यक्ति इस कार्य सिद्धान्त को समझ लेता है उसके सब कर्म शुभ से शुभतर हो जाते हैं । सब प्रकार की सफलता उसके सामने आने लगती है । कर्म और अकर्म के इस सिद्धान्त को समझ लेना ही बहुत बड़ी बुद्धिमानी की बात है । यह समझ ही तुझे जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा दिला पायेगी ।

**अखिलात्मा भगवान** श्रीकृष्ण का **यह उपदेश गीता के तीसरे अध्याय में आया है ।** दूसरे अध्याय के अन्त में भी भगवान **श्रीकृष्ण** ने अर्जुन को यही उपदेश दिया है :

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

अर्थात्—मनोगत सभी कामनाओं को छोड़ करके जो मनुष्य बिल्कुल इच्छा रहित होकर विचरता है एवं निरहंकार और निर्मम रहता है, वह शाश्वत शान्ति को पा जाता है ।

भगवान श्रीकृष्ण के श्रीमुख से इस प्रकार के वचन सुनकर अर्जुन के मन में शङ्का पैदा हो गई क्योंकि अर्जुन उनके पवित्र भावों को नहीं समझ सका था, इसलिए शंकास्पद होकर के उसने स्पष्ट कह डाला—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥

अर्थात्—हे अखिलात्मा यदि आप अकर्म को ठीक समझते हैं तो फिर मुझे घोर कर्म में क्यों डालते हो । इस प्रकार से आप मिले-जुले सिद्धान्तों को बतलाकर मेरी बुद्धि को भ्रमित-सी कर रहे हैं । इसलिए निश्चय करके यथार्थतः सिद्धान्त की बात कहो, जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो सकूँ । अर्जुन का यह मनोभाव समझकर भगवान ने उसे उत्तर दिया—

हे अर्जुन ! इस संसार में दो प्रकार से इस कर्म सिद्धान्त को पहले समझाया गया है । सांख्य शास्त्र का अनुगमन करने वाले लोगों को ज्ञान योग के द्वारा तथा कर्म योगियों को कर्मयोग के द्वारा । संसार में कैसा भी मनुष्य क्यों न हो वह कर्म को आरम्भ किये बिना निष्कामता को प्राप्त नहीं कर सकता । और जो लोग कर्म-मीमांसा को न समझ करके कर्म संन्यास कर बैठते हैं वे लोग भी सिद्धि को नहीं पा सकते । क्योंकि ऐसा हो ही नहीं सकता कि कोई भी मनुष्य जन्म लेकर एक क्षण भी कर्म किये बिना शान्त भाव से बैठा रहे । प्रकृति स्वयं ही उससे कर्म करवा लेती है । इसके अतिरिक्त कर्म सिद्धान्त को न समझ करके कोई व्यक्ति यदि कर्मेन्द्रियों का संयम न करके **इन्द्रियों के विषय का चिन्तन करता रहता**

है तो वह भी मिथ्याचारी अर्थात्—दम्भी कहा जाता है। और जो व्यक्ति कर्मेन्द्रियों पर मन से नियन्त्रण करके आसक्ति रहित होकर कर्म करता है वह श्रेय की ओर बढ़ जाता है। इसलिए हे अर्जुन तू शङ्का छोड़कर के बिल्कुल निश्चित मन से कर्म कर। क्योंकि कर्म के द्वारा ही निष्कर्मता को मनुष्य प्राप्त होता है।

भगवान ने अर्जुन को एक तात्वकी बात यह बतलाई कि—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु सः युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

अर्थात्—जो मनुष्य कर्म के अन्दर अकर्म को देखता है और अकर्म के अन्दर कर्म को देखता है, वही यथार्थता को जानता है वही बुद्धिमान तथा योगी होता है। कर्म के अन्दर अकर्म को देखने का अर्थ यह है मनुष्य नेकी तो करे फलेच्छा कुये में डाल दे अर्थात् दान पुण्य, तप और स्वाध्याय आदि उत्कृष्ट कर्म करे। इसी का अर्थ है कर्म के अन्दर अकर्म को देखना। कर्म करते हुए कर्म फल की इच्छा न करना ही अकर्मता है।

दूसरा विषय है अकर्म के अन्दर कर्म को देखना अर्थात्—जो मनुष्य कृतकृत्य हो चुका है जिसकी सब वृत्तियों का पूर्ण रूपेण शमन हो चुका है उसे कुछ भी करना अवशेष नहीं है। उसका संसार में कोई भी कर्तव्य शेष नहीं वह कोई भी कर्म करे या न करे यह उसकी अपनी इच्छा है। योग-दर्शन का सिद्धान्त है कि सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा में जिसको ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रकट हो जाती है उस पर कोई भी कर्म-लेप लागू नहीं होता। सूत्र है :—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी।
योग द० १/५०

अर्थात्—ऋतम्भरा प्रज्ञा के आ जाने के बाद केवल मात्र उसके ही संस्कार अवशेष रहते हैं। अन्य सभी संस्कार वहाँ रुक जाया करते हैं। इसलिए जो व्यक्ति सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है उसकी गति ऐसी हो जाती है कि वह सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता। किन्तु ऐसी स्थिति आ जाने के बाद क्या मनुष्य को सभी कर्म-कलापों का त्याग कर देना चाहिए? नहीं यह उचित नहीं, उसको पूर्णता प्राप्त होने पर भी लोक-व्यवहार हेतु कर्म करना ही चाहिए। क्योंकि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

अर्थात्—महान पुरुष जैसा-जैसा कर्म करते हैं लोक में इतर लोग वैसा-वैसा ही अनुकरण करते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने इस विषय में स्वयं अपने आपको उदाहरण रूप में रखा, और कहा :—

अर्थात् हे अर्जुन! तीन लोक में कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो किन्तु फिर भी मैं कर्म करता हूँ और बड़ी लगन के साथ करता हूँ क्योंकि सभी मनुष्य मेरा अनुसरण करते हैं। यदि मैं कर्म करना छोड़ दूँ तो प्रजा के नाश करने का कारण बन जाऊँगा। इसलिए कर्मबन्धन से मुक्त हो जाने के बाद भी लोकाभिनय को सामने रखते हुए मनुष्य को कर्मरत रहना चाहिए। इसी का नाम है अकर्म के अन्दर कर्म को देखना। मनुष्य अपने जीवन में कृतकृत्यता को पाकर भी अपने आपको कर्मरत रखे, यही कल्याण का मूल साधन है और सभी लोग इस सिद्धान्त को अपना कर्म करते हुए निष्कर्मता को ही निष्काम कर्मयोग कहा गया है जो मनुष्य को मोक्ष का मार्ग बताकर भव-चक्र से छुटकारा दिला देती है।

सम्पादकीय :—

# हम और हमारा गुरुधाम

'हम और हमारा गुरुधाम' जब यह शब्द-समूह मेरे और मेरे जैसे अन्य बहुसंख्यक गुरु भाई-बहनों के ध्यान में आ जाता होगा तब न जाने कितने भावना और श्रद्धा समन्वित वे चित्र भी उभरकर उन सबके सामने आ जाते होंगे, जिन्होंने पावन सवाई आश्रम के नयनाभिराम प्रांगण में अपने गुरुदेव के दर्शन और उनके सत्संग से कृतार्थ होने का सुअवसर पाया है। गुरुधाम से बाहर सामने के खुले आंगन में सायं-प्रातः नित्य ही जब गुरुदेव आश्रम में रहते, तब नित्य ही लगभग दो-तीन घण्टों का अमूल्य समय वे आश्रम में ठहरे हुए और आने-जाने वाले योग-साधना प्रेमी अपने प्रिय साधकों के साथ उनकी व्यथा कथा सुनने तथा उसके निवारण का समुचित समाधान बताने में बिताया करते थे। उनका सायं प्रातः का यह नैत्यिक सत्संग प्रायः उन्मुक्त वातावरण में ही चला करता था। किसी को भी इस सत्संग में शामिल होने अथवा अपनी निज की समस्या को उन्हें सुना देने में न कोई संकोच होता था और न किसी प्रकार का कभी कोई प्रतिबन्ध ही उन्हें ऐसा करने से रोक पाता था। निःसंकोच भाव से जैसे कोई बालक अपने संरक्षक अथवा पिता आदि को अपनी पीड़ा बताकर उसका समाधान चाहता है, ठीक यही दशा यहाँ प्रतिदिन स्वाभाविक रूप से आयोजित इस अपने गुरु दरबार में देखने को मिलती रहती थी। स्त्री और पुरुष दोनों के ही समुदाय पंक्तिबद्ध होकर अलग-अलग अपने आराध्य गुरुदेव के सामने अत्यन्त शान्त और गम्भीर मुद्रा में यथा-स्थान बैठे रहा करते थे।

हमारे गुरुदेव बहुश्रुत और बहु-आयामी व्यक्तित्व के धनी तो थे ही। वे प्रतिदिन आने वाली डाक द्वारा पत्रों को स्वयं पढ़कर तथा ब्रह्मचारियोंसे पढ़वाकर सुनते भी जाते थे और किसको क्या उत्तर देना है यह संकेत भी उत्तर लिखने वाले ब्रह्मचारियों को देते जाते तथा इसी बीच में नवागन्तुकों का प्रणाम स्वीकार करते हुए तथा आज्ञा लेकर जाने वाले साधकों को मुक्तहस्त अपना पुण्य प्रसाद भी सहजगति से देते रहने में कभी किसी भी प्रकार का कोई अन्तराय नहीं आने देते थे। इसी बीच में यदि किसी अन्तेवासी ब्रह्मचारी ने यदि अपनी आवश्यकता बतलाई तो उसकी तुरन्त पूर्ति का आदेश भी देकर वे उसका निवारण तत्काल कर देते थे।

पुरुष साधकों को जहाँ वे 'लल्ला' कहकर सम्बोधित किया करते थे वहीं वे बहनों को 'मुनिया' 'बिटिया' और 'लल्ली' कहकर पुकारते और उनकी कुशल-क्षेम पूछ लिया करते थे। कभी-कभी अपनी स्वाभाविक हरियाणवी ध्वनि से अलग हटकर देवियों से ठेठ ब्रजभाषा में भी वार्तालाप करके वे उनके तथा दूसरे सुनने वालों के लिए हास्य और विनोद के आनन्ददायक सरस वातावरण की सृष्टि कर दिया करते थे। जब तक भी गुरुदेव आश्रम में निवास करते, आश्रम का कण-कण तब तक प्राणवान बना रहता था। गुरु पूर्णिमा के बाद श्रावण के आरम्भ से पूरे एक माह तक चलने वाला यज्ञ महोत्सव तो आश्रम का अपना एक विशेष 'यज्ञ पर्व' बन गया था। इसमें यज्ञ क्रियाको सम्पन्न कराने वाले यज्ञीय पुरोहित विशेष रूप से आमन्त्रित किये जाते थे। साथ ही इसमें, साधनाप्रिय साधक शिष्य भी, देश के कोने-कोने से आकर गुरुदेवजी का विशेष अनुग्रह पाकर भाग लिया करते थे। इस पावसीय यज्ञ समारोह को देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो यहाँ आरण्यक कालीन कोई एक ऋषि आश्रम ही है।

× × ×

गुरुदेव अपने प्रचार कार्यक्रम की लम्बी शृङ्खला को पूरा करने के लिए जब दीर्घकालीन प्रवास पर चले जाते थे तब जाने से पूर्व वे आश्रम की की देख-रेख करने वाले ब्रह्मचारियों को यही समझाकर जाते थे कि मेरे बाहर जाने पर इसकी सारी व्यवस्था जिसमें आश्रम की भू-सम्पत्ति और प्रतिष्ठा शामिल है तुम्हारे ऊपर छोड़े जा रहा हूँ, इसे सुरक्षित रखना और इसकी प्रतिष्ठा में कमी न आने देना तुम्हारी सबकी अपनी जिम्मेदारी होगी।

गुरुदेव के इस आदेश का उनके बाहर चले जाने पर सभी आश्रमस्थ ब्रह्मचारियों द्वारा पूर्णरूपेण पालन भी किया जाता था। सभी अपने-अपने कर्त्तव्यों का ठीक-ठीक निर्वाह करते रहते थे। इसके साथ ही अतीत के अनेक ऐसे चित्र भी स्मृति पटल पर कभी-कभी आ उभरते हैं जिनमें गुरु-धाम की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति से प्रभावित होकर अनेक विदेशी किशोर और किशोरियाँ गुरुदीक्षा ग्रहण की प्रतीक्षा में गुरुदेव की आज्ञा से गोशाला में गायों की सेवा-सुश्रूषा में अपना समर्पण किये हुए हैं। इनको कभी कोई निमन्त्रण तो आश्रम की ओर से गया नहीं था फिर कैसे आगये थे ये विदेशी शिक्षार्थी यहाँ ! इसीलिए न कि गुरुदेव की जीवन-साधना की सौंधी-सौंधी गन्ध जिसमें उनकी कठोरतम त्याग-तपस्या के बेशुमार श्रमकण भी मिले हुए थे इन्हें यहाँ खींचकर ले आती रही। और यही थी उनके जीवन मूल्यों की महत्ता जिसने बिना किसी विज्ञापन के, बिना किसी योजनाबद्ध प्रचार-प्रसार के उन्हें एक विश्व विश्रुत सिद्ध योगी के रूप में प्रतिष्ठापित करा

दिया था। यह उनकी अपनी जीवन-शैली थी जिससे इधर-उधर आधा इंच भी हटकर चलना वे जानते ही नहीं थे। वे कभी कभी अपने प्रवचनों में अपनी इस शैली का स्पष्ट-सा संकेत भी दे दिया करते थे। वे कहा करते थे 'योगी और सद्गुरु अपनी उपस्थिति का ढिंढोरा नहीं पीटा करते। वे साधन सम्पन्न नगरीय आवास कक्षों को अपना प्रवास भी नहीं बनाया करते हैं। उपनिषदों में वर्णित गाड़ी वाले रैक्व के समान वे तो तुम्हें बहुत खोजने पर ऐसे स्थान पर ही मिल पायेंगे जहाँ हर किसी की पहुँच नहीं हो पाती। गुरुदेव पूर्ण सिद्ध योगी होते हुए भी अपने को विज्ञापित करने-कराने में सदा पीछे रहना ही पसन्द करते थे। अनेक अनगिनती शिष्य दीक्षा और भेंट के रूप में मुक्तहस्त होकर जो कुछ भी उन्हें देते थे उसे मुक्त मना होकर आश्रम की विविध गतिविधियों के विकास में लगा देते थे। पिछले दो-ढाई दशकों में उनके द्वारा कराया गया सचाई आश्रम का क्रमिक विकास हमारे इस कथन का प्रमाण है।

अपने इस गुरुधाम को एक उच्चकोटि का सिद्धस्थल बनानेमें उन्होंने अपना सारा पुरुषार्थ ही उँड़ेल दिया था। भीषण सर्दी, गर्मी आदि मौसमी प्रतिकूलताओं के बावजूद उनकी दूरगामी यात्रायें निरन्तर जारी रहती थीं। गंगा के पावन संगम पर प्रतिवर्ष माघ मेला समारोह में गुरुदेव प्रति-वर्ष ही अपने आश्रम का शिविर लगाकर अपने सभी शिष्य साधकों को कल्पवास का अवसर प्रदान कराया करते थे। अपने गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी के आदेशानुसार उन्होंने उनके लीलाधाम सचाई को ही अपना मुख्य केन्द्र बनाकर शनैः शनैः उसे एक सुविख्यात राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के शक्तिपात दीक्षा केन्द्र के रूप में ला खड़ा किया। योग की लोक कल्याणकारी विधियाँ जन-जन के जीवन में प्रतिष्ठित हों, यही उनके योग-प्रचार का मुख्य उद्देश्य रहता था। वे दैवी शक्ति सम्पदा के असीमित कोष के स्वामी थे और अपने इस कोष को अधिकारी पात्रों के बिना किसी संकोच के लुटाना उनका खुला हुआ-सा लक्ष्य था। इसी एकमात्र लक्ष्य की पूर्ति के लिए उन्होंने आगरा जनपदके आगरा-फीरोजाबाद मार्ग पर बसे एत्मादपुर कस्बे से कुछ दूर हटकर बसे एक मध्यम श्रेणी के गाँव सचाई में अपना आसन आ जमाया था। उनका वहाँ आना उनकी गुरुनिष्ठा और गुरुभक्ति का ही एक आदर्श-सा उदाहरण रहा है। उन्होंने जितनी भी इस आश्रम की प्रवृत्तियाँ चलाईं उन सबका स्वयं कोई श्रेय न लेकर सारा श्रेय अपने गुरु प्रभुवर श्री रामलालजी महाराज को ही दिया। क्या ही अच्छा हो यदि हम और आप सभी जिनका कुछ भी सम्बन्ध और लगाव गुरुदेव से रहा है उनकी जैसी गुरुनिष्ठा को ही अपना आदर्श बना लें तो निश्चय ही आश्रम की गतिविधियों और विभिन्न क्रिया-कलापों के संचालन में तो

# स्वधर्मपालन और सुख

कुछ लोग यश प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य मानकर भटक जाते हैं। यश की इच्छा से प्रेरित मनुष्य के कर्म सात्त्विक नहीं रह सकते हैं। वह यश के कुचक्र में फंस कर यश के अवसर ही ढूंढता रहता है। जीवन का लक्ष्य सुख-प्राप्ति ही नहीं है। जीवन का उद्देश्य है पूर्णता का प्रयत्न, आदर्शों के अनुरूप विकास करना। सुख परछाईं अथवा वफादार कुत्ते की भाँति पीछे-पीछे आता है। सुख को लक्ष्य मानकर सुख के पीछे चलने से सुख हमसे दूर भागता है, परछाईं की भाँति पकड़ में नहीं आता है। स्वधर्मपालन से सुख स्वयं पीछे भागता हुआ आता है। सुख की इच्छा त्यागने से सुख मिलता है।

अमेरिका आदि कुछ देशों में कई संस्थाओं के द्वारा मानसिक नियन्त्रण की दीक्षा द जाती रही है। प्रभु का छोटा-सा प्राणी भी मानवता की असीम सेवा कर सकता है। समाज की वस्तु-स्थिति से उत्तेजित हो जाने के बजाय मानस समाज का अत्यधिक सुधार कर सकता है किन्तु वास्तव में आत्म-सुधार ही समाज-सुधार की आधारशिला है। धारणा बना लो (१) मेरी बढ़ती हुई मानसिक शक्तियाँ समाज की अधिक अच्छी सेवा करने के लिए ही हैं। (२) प्रतिदिन मैं प्रत्येक प्रकार से अधिक अच्छा ही अच्छा होता जा रहा हूँ, कल की अपेक्षा आज अधिक अच्छा हूँ। (३) मेरे रचनात्मक, धनात्मक (पाजिटिव) एवं स्वस्थ विचार मुझे प्रत्येक प्रकार से लाभ दे रहे हैं। किसी प्राणी के लिए मुझे दुर्भावना नहीं रखनी है। (४) अपनी इन्द्रियों, विचारों एवं शक्तियों पर मेरा पूर्ण नियन्त्रण है। मस्तिष्क एक प्रयोग-शाला है। मेरा अपने मस्तिष्क के प्रत्येक स्तर पर पूर्ण नियन्त्रण है। (५) मुझे दूसरे लोगों के स्वास्थ्य एवं सुख के लिए प्रार्थना करनी चाहिए, यत्न भी करना चाहिए। —शिवानन्द

---

थोड़ी-सी विषमता दृष्टिगोचर हो रही है वह समता सहयोग और सद्भाव के रूप में बदलती होती हुई नजर आ सकती है।

सद्गुरु के सद्शिष्यों का धर्म भी यही होता है कि वे अपने गुरुदेव के शुरू किए कार्यों को पूरा करने के लिए अपने व्यक्तिगत मनोरथों को, सर्वसम्मत मनोरथों की पूर्ति हेतु परित्याग कर दें। यही श्रेष्ठ पुरुषों का वह निर्बोध है और यही वह महाजनों का पंथ है जिसके मानने और जिस पर चलने का परामर्श हमें आचार्य और ऋषि मुनि सदा देते रहे हैं। काश हम ऐसा कर सकें।

—सम्पादक

● ब्र० दासलाल आचार्य

# चित्त वृत्तियाँ और उनका परिणमन

[श्री दासलाल गुरुदेवजी के निकटतम शिष्य प्रस्तुत लेख पठनीय और मननीय है। श्रृंखला में एक योगधर्मी विशेष सहायक है।
—सम्पादक]

मन, बुद्धि चित्ताहंकार इन चारों का पारिभाषिक नाम अन्तःकरण है। योगदर्शन में इस अन्तःकरण के लिए चित्त शब्द का प्रयोग होता है। मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो, के नियमानुसार 'मन ही मनुष्य के बन्धन और मुक्ति का कारण है। चित्त वृत्तियों का प्रस्तार संसार एवं बन्धन का कारण है तथा चित्त वृत्तियों का निरोध मुक्ति का हेतु है। महर्षि पतञ्जलि जी ने "योगश्चित्त वृत्ति निरोधः" कहकर योग की परिभाषा की है। इसी परिभाषा में सम्पूर्ण योग-दर्शन का निचोड़ रख दिया है। पूरा योग-दर्शन इस सूत्र की व्याख्या मात्र है। चित्त की असंख्य वृत्तियाँ होती हैं तथापि योग-दर्शन में विभागीय दृष्टि से इसे पाँच विभागों में परिगणित किया है। 'वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः' अर्थात् क्लिष्टा और अक्लिष्टा वृत्ति पाँच प्रकार की होती है। पुरुष को दुःख प्रदान करके क्लेशित करने वाली वृत्तियाँ क्लिष्ट वृत्ति कहलाती है अर्थात् जिन वृत्तियों से मनुष्य संसार-भोग एवं बन्धन में पड़कर परिणामतः दुःख ही दुःख पाता है वह क्लिष्टा वृत्ति कहलाती है। गीता में अखिलात्मा भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी ने क्लिष्टा वृत्तिजन्य राजसी सुख की परिभाषा इस प्रकार की है—

विषयेन्द्रिय संयोगा-
यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव
तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

अर्थात् विषयों एवं इन्द्रियों के संयोग होने वाला सुख भोगकाल में अमृत-सदृश भासता है परन्तु परिणाम में दुःखदा होने के कारण विष के समान है।

दूसरी प्रकार की वृत्ति अक्लिष्टा है। यह वृत्ति धर्म, विवेक ख्याति एवं कैवल्य पद की ओर ले जाने वाली होती है।

"यत्तदग्रे विषमिव-
परिणामेऽमृतोपमम्"

इस भगवदुक्ति के अनुसार ऐसी वृत्ति जन्य सुख साधना काल में तथा अनुष्ठान काल में विष तुल्य लगता है परन्तु परिणाम में अमृतत्व को देने वाला होने से सात्विक सुख है।

हमारे चित्त में अनन्त काल से ही कर्म वासनाओं के कारण इन दोनों वृत्तियों का अस्तित्व बना हुआ है। यह एक दूसरे के विरोधी होने के कारण दूसरे के छिद्र या कमी का अन्वेषण करते रहते हैं ज्यों ही एक वृत्ति क्षीण पड़ने या अभिभूत होने लगती है दूसरी वृत्ति अपना विस्तार बढ़ा लेती है। साधारण शब्दों में हम इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि मनुष्यमें अच्छाई या बुराई दोनों ही विद्यमान रहते हैं। चित्त भूमि पर इन दोनों वृत्तियों की रस्साकशी सदा चलती रहती है। इसी-

लिए कभी-कभी क्रूर व्यक्तियों को भी पुण्य के कार्य करते हुए देखा जाता है। तथा धार्मिक व तपस्वी व्यक्ति भी पाप कर्म में प्रवृत्त होते देखे जाते हैं। चित्त में इन दोनों का अस्तित्व अलग-अलग बना रहता है।

एक-दूसरे की धारा में पड़े हुए भी यह अपना अस्तित्व नहीं खोते। जीव की भोगों में स्वरसवाही सहज जन्म-जन्मान्तर प्रवृत्ति रहती है। परन्तु अक्लिष्टा वृत्ति को बढ़ाने के लिए योग शास्त्रों में अभ्यास और वैराग्य ये दो प्रमुख साधन बताये हैं। विवेक ज्ञान के उदय होने तक अक्लिष्टा वृत्ति परमोपादेय रहती हैं। विवेक ज्ञान के उदित होने पर वैराग्य के द्वारा इन अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध किया जाता है। इन क्लिष्टाऽक्लिष्ट वृत्तियों से संस्कार तथा संस्कार से वृत्ति यह संस्कार वृत्ति चक्र निरन्तर चलता रहता है। वृक्ष से बीज तथा बीज से पुनः वृक्ष की तरह यह चक्र बना रहता है। विवेक ज्ञान रूपी अग्नि के उदय होने पर ही इस संसार बीज का दाह कर दिया जाता है। जो पुनः फल देने में अक्षम हो जाता है।

सृष्टि में चिति शक्ति को छोड़कर हर वस्तु हर क्षण परिणमित होती रहती है। यह परिवर्तन स्थूल प्रकृति (महाभूत) से लेकर महत्तत्त्व (बुद्धि) पर्यन्त सब में निरन्तर होता रहता है। मन बुद्ध्यादि गुणात्मिका हैं इनमें भी यही परिणमन प्रतिक्षण चल रहा है। इसी के परिणामस्वरूप व्यक्ति सत्व गुणाधिक्य के कारण कभी संसार से विरत होते लगता है वही पुनः संसार में आसक्त होते देखा जाता है। मुक्तिदायिनी अक्लिष्टा वृत्ति को बढ़ाने के लिए अभ्यास वैराग्य सहित ध्यान योग का अभ्यास किया जाता है। ध्यानावस्था में चित्त की वृत्तियाँ किस-किस प्रकारसे बदलती रहती हैं इसका विशद विवेचन योग-दर्शन में हुआ है। चित्त के त्रिविध (निरोध-समाधि व एकाग्रता) परिणाम के द्वारा यह स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि ध्यानावस्था में चित्त में किस प्रकार से परिवर्तन होते रहते हैं। इनमें से निरोध परिणाम में व्युत्थान के संस्कार दबते जाते हैं और निरोध संस्कार उभरते जाते हैं। समाधि परिणाम में चंचलता का तिरोभाव तथा एकाग्रता का प्रादुर्भाव होता रहता है। एकाग्रता परिणाम में समान रूप का ज्ञान शान्त और उदित होता रहता है। विस्तारभय से यहाँ इसकी अधिक व्याख्या नहीं की जा रही है धर्म और धर्मी के अभिन्न होने के कारण यह परिणाम चित्त के ही माने जाते हैं। चित्त के इन तीन परिणामों में धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम चित्त के अवस्था परिवर्तन भेद से निरन्तर चलता रहता है, जब तक चित्त अपने कारण में लय नहीं हो जाता। सांख्य योग के मत में किसी भी पदार्थ का नाश नहीं होता। पदार्थ के धर्म व रूप परिवर्तित होते रहते हैं।

सांख्य योग मत में 'नाशो कारणलयः' का सिद्धान्त चलता है अर्थात् कार्य का अपने कारण में लय होना ही नाश है। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' का सिद्धान्त सांख्य योग का ही है। संसार की हर वस्तु चाहे वह स्थूल जगत की हो या सूक्ष्म जगत की धर्म, लक्षण व अवस्था रूप परिणाम में परिवर्तित होती रहती है। योग-दर्शन में इसका एक उदाहरण दिया गया है। धर्मी मिट्टी पिण्डाकार रूप धर्म से अन्य धर्म घट के आकार को प्राप्त होती हुई धर्म के द्वारा घट रूप में परिणत होती है यह उसका धर्म परिणाम है। अतः घट रूप धर्म अपने

अनभिव्यक्त अनागत धर्म को छोड़कर वर्तमान कालिक स्थिति को प्राप्त होता है, यह लक्षण परिणाम कहलाता है। वर्तमान लक्षण युक्त यह धर्म प्रतिक्षण उत्तरोत्तर पुराने से पुराना होता चला जाता है। इस परिणाम को अवस्था-परिणाम कहेंगे।

यह धर्म, लक्षण एवं अवस्था परिणाम स्थूल पदार्थ में भी घटित होता है। तथा चित्त में भी यह परिणाम घटते रहते हैं। साधक को अपनी चित्त वृत्तियों का ज्ञान तथा चित्त की परिवर्तित अवस्था का ज्ञान होने से आत्मा का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। योग-दर्शन में 'सदा ज्ञाताश्चित्त-वृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्' अर्थात् पुरुष अपरिणामी होने के कारण उसे चित्तवृत्तियों का सदा ज्ञान रहता है। इसीलिए साधक को अपने चित्त शुद्धि एवं विकास का ज्ञान होता है। योगियों को भूत भविष्य का ज्ञान इसी धर्म-लक्षण और अवस्था पर संयम करने पर ही होता है। 'परिणामत्रय संयमात् अतीतानागत ज्ञानम्' यह योग दर्शन का सूत्र है। प्रकृति की हर वस्तु इन्हीं धर्म, लक्षण व अवस्था परिणाम में से किसी न किसी दशा में विद्यमान होती है। योगी को ही वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है क्योंकि वह उसके भूत भविष्य को भी करतल आमलकवत् देखता है।

संसार-सागर में डुबो देने वाली वृत्तियों का ध्यान योग के अभ्यास के द्वारा ही उच्छेद कर दिया जाता है। योगी के चित्त के सम्पूर्ण मल नष्ट होकर हृदय ग्रन्थि टूट जाती है। जिससे संसार चक्र से जीव सदा के लिए मुक्त हो जाता है। ध्यान योग के द्वारा ही मनुष्य का सम्पूर्ण व सर्वाङ्गीण विकास सम्भव होता है। ध्यान योग निरन्तर विकास की प्रक्रिया है जिससे अन्ततः साधक ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है। अतः साधकों को श्री सद्गुरुदेव प्रदत्त इस ध्यान योग की अमर निधि को बराबर बढ़ाते रहना चाहिए।

## सदाचारी कौन ?

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं
नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।
दत्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं
स कथ्यते सत्पुरुषार्यशील: ॥

—महात्मा विदुर

जो अपने सुख में प्रसन्न नहीं होता, दूसरे के दुःख के समय हर्ष नहीं मानता तथा दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता, वह सत्पुरुषार्यशील अर्थात् सदाचारी कहलाता है।

● श्री सेवतीलाल शर्मा (एड्वोकेट)

# योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योगियों का देश के इतिहास में एक उल्लेखनीय स्थान रहा है। देश की अनमोल विभूतियों के रूप में समय-समय पर चमत्कारिक करिश्मों से आज भी उनकी यादें जिन्दा हैं। भगवान् श्री कृष्ण को पूर्ण रूपेण योगिराज कहा गया है और आज इसी पदवी से विभूषित किया गया है महर्षि श्री अरविन्दजी को।

हमारे जि० आगरा में ही एतमादपुर कस्बे से बरहन जाने वाले मार्ग पर सिद्ध गुफा के अधिष्ठाता श्री चन्द्रमोहन महाराज की ख्याति देश-विदेश में सिद्धयोगी के रूप में फैली हुई थी। और उस ख्याति में समाजवादी नेता राजनारायणजी ने अनेकों बार सिद्ध गुफा आकर महाराज जी के दर्शन कर वहाँ का प्रसाद तत्कालीन राष्ट्रपति श्री नीलम संजीव रेड्डी व संसदीय सदस्यों को देकर राष्ट्रीय मान्यता प्रदान करने में अनूठा योगदान दिया था। मेरे मन में कई बार उत्कंठा जागी कि योगिराज जी के दर्शन कर उस पवित्र आश्रम की मिट्टी को अपने मस्तक पर लगाने का सौभाग्य प्राप्त करूँ! मैंने अपने स्व० मित्र पं० बेनीराम शर्मा से सलाह ली तो उन्होंने बड़ी उत्सुकता से इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया।

फिर क्या था, हम दोनों मोटर साइकिल पर सवार होकर प्रसाद के लिए एक दर्जन केले लेकर आश्रम पहुँच गये। ग्रामीण आँचल में खेतों से लगा आश्रम वृक्षों की छाया में शान्ति स्थल प्रतीत हुआ। क्योंकि साधु-सन्त अपने व्यक्तित्व से स्थानों को अनुपम सुन्दर व सुगन्धित कर देते हैं। कुएँ का निर्मल जल पीकर शीतलता का अनुभव किया।

चूँकि वार्षिक भंडारा एक दिन पहले ही समाप्त हो चुका था परन्तु फिर भी विभिन्न प्रदेशों के शिष्य व शिष्याओं की चहल-पहल आश्रम में देखने को मिली। एक ओर विशेष भीड़ थी अतः उत्सुकतावश हम भी वहाँ पहुँचे तो देखा कि कई एक शिष्याएँ चार-चार लडुओं की पार्सल बनाकर गुरुजी की आज्ञानुसार उन शिष्यों को भेज रही हैं जो स्वयं उपस्थित न होने के कारण प्रसाद से वंचित रहे। यह सुनकर मुझे लगा कि स्वामी जी कितने सहिष्णु और संवेदनशील होंगे।

इतने में क्या देखता हूँ कि एक सज्जन अपने साथ एक संन्यासी को लेकर अमुक-अमुक सज्जनों के नाम बता रहे हैं। इतने में सामने देखा कि चेहरे पर एक विशेष तेज चौड़े ललाट वाले योगिराज जी सामने हो थे। बरबस नमस्कार के लिए हाथ उठ गये। स्वामी जी ने अपरिचितों को बड़े स्नेह से उत्तर दिया। हमसे जब पूछा तो हमने अपना मन्तव्य भी बताया। तुरन्त कहा पहले प्रसाद ग्रहण करो फिर वार्तालाप करेंगे।

हमने प्रसाद लिया और सोचने लगे कि स्वामी जी अतिव्यस्त हैं और हम चाहते हैं

( शेष पृष्ठ १५ पर )

● डॉ० हरिमोहन लाल

# योग ऐश्वर्यों के धनी— पवन पुत्र हनुमान्

'आचारः परमो धर्मः' की सूक्ति के अनुसार आचार यानी सदाचार परम धर्म है। सदाचार समस्त मानवता का अलंकरण है, जो धर्म के गूढ़ तत्त्वज्ञान की ओर प्रेरित करता है। सदाचार उस पथ का प्रारम्भ है तो धर्म उसकी परिणति, सदाचार के क्रियान्वयन का ही प्रतिफल धर्म की गम्भीरता के लिए पथ प्रशस्त करता है।

शंकर-सुवन, पवन-तनय, केसरीनन्दन, अञ्जनि पुत्र हनुमानजी में श्रेष्ठ विभूतियों के संस्कारों का समन्वय था और वे सदाचार की साक्षात् प्रतिमा थे। सर्वलोक महेश्वर शिव ने अपने एक अंश से हनुमान् को जन्म देकर श्रीराम की मङ्गलमयी लीला में सहयोग किया। अतएव लोककल्याण और भगवद्भक्ति से सम्पन्न होकर हनुमान् ने वायु वेग जैसी गति से सीतामाता के शोक-निवारण का तथा संतप्त मानवता के संकट-हरण का व्रत लिया। श्रीराम की सेवा में संलग्न हनुमान् ने श्रीराम के विश्वजनीन कार्यों में सहयोग दिया।

'वाल्मीकि रामायण के अनुसार तेज, धृति, यश, चातुर्य तथा शक्ति, विनय, नीति, पुरुषार्थ, पराक्रम और बुद्धि—ये दस गुण हनुमानजी में सदैव विद्यमान हैं। उनकी बालोचित चपलता के कारण ऋषियों की थोड़ी-सी खिन्नता भी उपयुक्त समय पर काम आयी। ऋषियों ने कहा—'तुम जिस बल का आश्रय लेकर हमें सता रहे हो, उसे दीर्घकाल तक भूले रहोगे। जब कोई दूसरा तुम्हें तुम्हारी कीर्ति का स्मरण दिलायेगा, तभी तुम्हारा बल बढ़ेगा।' एक बड़ी सीख थी कि बल और पौरुष का प्रदर्शन लोगों को सताने के लिये नहीं होना चाहिए और न सब समय होना चाहिए।

हनुमानजी ने अपने गुरुदेव भगवान सूर्य को वचन दिया था कि वे सुग्रीव की रक्षा में संलग्न रहेंगे। प्रतापी बालि से भरपूर आदर पाकर भी उन्होंने कमजोर सुग्रीव का पक्ष लिया और उसे उन्नति के उच्च शिखर पर पहुँचाने के साथ ही श्रीराम की कृपा का अमित लाभ दिलाने के निमित्त बने। भगवान् श्रीराम भी प्रथम परिचय में हनुमान् की संस्कार और क्रम से सम्पन्न कल्याणमयी वाणी से प्रभावित हुए और उन्होंने लक्ष्मण से कहा—'इनके विद्वत्तापूर्ण शुद्ध उच्चारण से स्पष्ट है कि ये व्याकरणशास्त्र के पारंगत विद्वान् हैं। इन्होंने वेदों और शास्त्रों का ज्ञान भी प्राप्त किया है। उत्तम संस्कार और शिष्टाचार प्रत्येक प्राणी पर अपना प्रभाव डालते ही हैं। हनुमान् की वाग्मिता ने श्रीराम को प्रभावित कर दिया।

हनुमानजी को उनके बल का कुछ स्मरण तो सुग्रीव ने दिलाया, जब उन्हें सीताजी की

खोज में भेजा गया। सुग्रीव ने कहा—'कपि-श्रेष्ठ ! तुम में अपने महापराक्रमी पिता वायु-देव के समान अबाध गति, वेग, तेज और स्फूर्ति आदि सभी सद्गुण हैं। भूमण्डल में कोई भी प्राणी तुम्हारे तेज की समानता करने वाला नहीं है। अपने आराध्य श्रीराम से आशीष पाकर उनके नाम का अखण्ड जप करते हुए हनुमान्जी वृद्ध जाम्बवान का निर्देशन स्वीकार कर उत्साह पूर्वक चल पड़े। समुद्र तट पर जाम्बवान् ने भी हनुमान्जी को उनके असीम, अपरिमित बल का सच्चा स्मरण दिलाया। उन्होंने कहा—हे बज्राङ्ग हनुमान् ! श्रीराम के कार्य के लिए ही तुमने अवतार लिया है। ब्रह्मादि देवताओं ने तुम्हें अलौकिक वरदान प्रदान किये हैं। तुम अप-रिमित शक्ति-सम्पन्न हो। तुम्हारी गति अबा-धित और असीम है। यह विशाल समुद्र तो तुम्हारे लिये तुच्छ और नगण्य है। उठो तथा समुद्र को लाँघकर लंका पहुँच जाओ और सीता माता के दर्शन कर तुरन्त लौट आओ।

आज्ञा-पालन में विनम्र, कर्तव्य-निर्वाह में सुदक्ष, वयका सम्मान करने वाले, हृदय में अनन्य भक्ति से विभूषित, बुद्धि, तेज, शक्ति एवं पराक्रम के सजीव विग्रह हनुमान्जी सेवा और सदाचार, मङ्गल एवं परोपकार के जाज्वल्यमान आदर्श हैं। समुद्रोल्लङ्घन की कठिनाई उनके लिये कोई अर्थ नहीं रखती थी। उनकी प्रशस्ति में गोस्वामी श्री तुलसी-दास जी ने कहा—

दुर्गम काज जगत के तेते।
सुगम अनुग्रह तुम्हरे तेते।।

लंका में रामदूत की अनेक लीलाओं के बीच उनके सदाचारी स्वरूप का उन्नत उत्कर्ष दिखाई देता है। सूक्ष्म देह धारण करते हुए जब उन्होंने रात्रि में राक्षसों के अन्तःपुर में सीतामाता की खोज की तो उन्हें सब कहीं विलास-मग्न अर्द्ध-नग्न राक्षस-राक्षसी देखने को मिले। बाल-ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय हनुमान्-जी के मन में क्षणभर के लिए नारी-दर्शन के पातक के लिए आत्मग्लानि का संचार हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं। उनके मनमें कभी तनिक गर्व का उद्वेग होने पर जिस प्रकार भगवान् श्रीराम उन्हें ज्ञान कराने में सहायक रहे, उसी प्रकार धर्म-संकट के इस अवसर पर हनुमान्जी के सम्भ्रम का समाधान उनके इस बोध से हुआ कि उनकी सारी निष्ठा तो सीतामाता के ध्यान में केन्द्रित है—सुरापान और भोगविलास में शिथिल निद्रामग्न ये हाड़-मांस के जीव निरे शव हैं। वस्तुतः कामजित् हनुमान् में अखण्ड सदाचार का उत्तम निदर्शन है, जो किसी भी साधारण मानव के लिए अलभ्य होते हुए भी मनो-निग्रह और संयम-सदाचार की सतत साधना से सुलभ भी हो सकता है। सदाचार का तात्त्विक स्वरूप मानस में होता है और जिनकी मनःस्थिति परिस्थितियों से भी अस्थिर नहीं होती। वे ही तत्त्वतः सदाचारी होते हैं। हनुमान्जी ऐसे ही सदाचारी ब्रह्म-चारी थे। धर्मलोप की चिन्ता होने पर उन्होंने स्वयं सही निर्णय लिया है—

मनो हि हेतुः
सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने।
शुभाशुभास्ववस्थासु
तच्च मे सुव्यवस्थितम्।।
(वाल्मी० रा० ५/११/४२)

सम्पूर्ण इन्द्रियोंको शुभ और अशुभ अव-स्थाओं में लगाने की प्रेरणा देने में मन ही कारण होता है। किन्तु यह मेरा मन सुव्य-वस्थित है। (उसमें राग-द्वेष का प्रभाव नहीं

है; अतः परस्त्री-दर्शन यहाँ धर्म का लोप करने वाला नहीं हो सकता।')

तभी तो युद्ध में अमित विक्रम दिखाने वाले और द्रोणगिरि से संजीवनी लाने वाले हनुमान् को जगदम्बा जानकीजी ने आशीर्वाद दिया था—'वत्स ! समस्त सद्‌गुण तुम में निवास करें। 'अजर अमर गुननिधि सुत होहू।' और यह भी कि अनुज समेत प्रभु तुम पर सदा अनुकूल रहें।

समस्त सद्‌गुणों के समूह भक्तप्रवर हनुमान् जी बल, सेवा और सदाचार की मूर्ति हैं। अपने पावन चरित्र से वे शक्ति, भक्ति, सेवा, समर्पण, त्याग और बलिदानकी प्रेरणा जगाने वाले 'संकटहरन एवं मङ्गलमूर्ति' हैं। उनकी तान्त्रिक उपासना' उग्र मानी जाती है, परन्तु वे महावीर निश्छल सौम्यता पर सहज रीझने वाले हैं। आस्तिकता और परोपकार—सदाचार के दो बड़े लक्षणों के कारण ही हनुमान् जी सदैव पूजनीय हैं। कहीं श्रीराम कीर्तन सुनकर वे हाथ जोड़े खड़े रहते हैं और कहीं दीन-दुखियों की सहायता के लिए दौड़ जाते हैं। कथा-श्रवण सदाचार निष्ठा का द्योतक है। सदाचार की अनूठी सिद्धि ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य की सिद्धि ही जीवन है। हनुमान्‌जी अपने सदाचारी सद्‌गुणों के ही कारण चिरंजीवी और मङ्गलमूर्ति हैं। सच है—

सूर शिरोमनि साहसी, सुमति समीर कुमार।
सुमिरत सब सुख संपदा, मुदमङ्गल दातार॥
दोहा—२३७ रामाज्ञाप्र० ५/४/१

( पृष्ठ १२ से आगे पढ़िए)

कि आध्यात्मिक चर्चा हो। तभी स्वामी जी ने हमें सम्बोधित करके कहा, "बन्धुओ! आओ सिद्ध गुफा के दर्शन कर लें" हम तुरन्त स्वामी जी के पीछे चल पड़े। कुछ सीढ़ियों नीचे की ओर जाकर हमने एक रमणीक स्थान सुनसान शान्तिमय देखा वहाँ एक उच्च स्थान में आसन लगा था। यही पवित्र स्थान गुरु महाराज का था। जहाँ गुरु श्री रामलाल जी योग साधना करते थे। गुरुजी सिद्ध पुरुष थे। लोगों का कहना था कि उन्होंने स्वयं आँखों से गुरुजी को आकाश में उड़ते देखा। कुछ ने गुरुजी को एक समय में कई स्थानों पर देखा। हमें भौचक्का सा देखकर स्वामी जी ने कहा "योग द्वारा सब कुछ सम्भव है। उन्होंने योग को बड़े सरल भाव से बताया कि इसका अर्थ है "जोड़ना" और आगे चलकर मानस जीवन में सारी युक्तियाँ मानस की जोड़ने की ऋचा हैं। विद्या अध्ययन से विश्व के अनेक आविष्कारों की जानकारी प्राप्त होती है। गुणवान व्यक्ति इनको संजोता है। तथा जनहित और कल्याण कार्यों में प्रयोग करता है। यह भी योग का ही एक रूप है। दूसरा भारतीय दृष्टिकोण संसार के समस्त बन्धनों से हटकर प्रभु के चरणों में ध्यान लगाकर, संसार में सुख व शान्ति तथा सम्पन्नता की वृष्टि हो ऐसा प्रयास योगी लोग करते हैं। कठिन साधना निरन्तर त्याग और संयम की परीक्षा में कुछ ही लोग उत्तीर्ण होकर यशस्वी बन पाते हैं। कभी शान्ति से आइये खुलकर चर्चा होगी। इतने में कुछ शिष्यगण प्रस्थान करने के पहले योगिराज जी के चरण-स्पर्श व आशीर्वाद लेने आ पहुँचे। बातों का सिलसिला टूट गया और हम भी आज्ञा लेकर घर लौट आये।

कवि शंकर की दो कवितायें—

चेतावनी

★

योगसाधना

क्या भूल रहा टुक चेत,
काल की चाल देख भाई।

बिन्दु-स्वरूप गर्भ में आया, शनै-शनै पुतला बन पाया,
मोदमढ़ी जननी ने जाया, समझा सुखदाई।
बालक बना खिलाड़ी खेला, देखा शिशु मंडल का मेला,
झंझट का मिल गया झमेला, बीती लरिकाई।
रहे न लक्षण बालकपन के, उमगे रंग ढंग यौवन के,
साधन बदल गये सब तन के, महिला मन भाई।
वासर तरुणाई के बीते, किये यथारुचि मन के चीते,
हा, उपहार भोग-रस-रीते, रहि जरा लाई।
साथ नहीं रसराज रसीले, सारे अंग हो गये ढीले,
छिन गई ठसक बोल गरबीले, बौरी छवि छाई।
सारे केश हो गये भूरे, मुख में दांत न दरसें पूरे,
डग-मग डोले डील लंडूरे, लकुटी परचाई।
भार बुढ़ापे का वर बाना, बन्द हुआ अब आना जाना,
स्वर्गवास पौरी को माना, तजे न चरपाई।
अबतो छोड़ अनारी घर को, भक्तिभाव से भज शंकर को,
बल्लभ मत खोवे अवसर को, मौत निकट आई।
काल की चाल देख भाई

यों ध्रुव ध्यान लगाओ,
रे, साधो, यों ध्रुव ध्यान लगाओ।

आसन पर बैठो अंगों को इत-उत को न डुलाओ,
थोड़ा सोना, बहुत न बोलो अधिक न भोजन पाओ।
दूर रहो खोटे विषयों से वैदिक व्रत अपनाओ,
पान करो पीयूष प्रेम का सरल सुशील कहाओ।
राग बिसार बनो वैरागी विमल विवेक बढ़ाओ,
रोग-शत्रु कामादि भटों की अनुचित मार न खाओ।
सामायिक विद्या के बल से भय, भ्रम-भूल मिटाओ,
ध्यान-धारणा कर शंकर का, परम सिद्ध बन जाओ।
रे साधो, यों ध्रुव ध्यान लगाओ।

पूर्व प्रकाशित से आगे :

## योग योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज

की

# -: दिव्य जीवन गाथा :-

● श्री श्यामलाल खन्ना "श्याम"

आयु का आधार यही है।
कर्म गति का सार यही है॥
पुण्य पाप के कारण इस से।
सुख-दुख रूपी फल हैं मिलते॥
विषयजन्य जो सुख है भाई।
विवेक शील को दुख की नाई॥
परिणाम दुःख और ताप दुःख है।
संसकार का महान दुःख है॥
गुण घटते बढ़ते रहते हैं।
वृत्ति विरोध से दुख देते हैं॥
हेय दुःख है आने वाला।
यत्न करो जो जाये टाला॥
दृष्टा दृश्य से मिल जाता है।
हेय हेतु वह बन जाता है॥
तीन गुणों का दृश्य बना है।
गुणातीत आत्म दृष्टा है॥
सतगुण करता है परकाश।
रजगुण करता सारे काज॥
तमोगुण तो रोक लगावे।
तीन गुणों से जग भरमावे॥
भोग और अपवर्ग इन्हीं से।
न्यारे न्यारे खेल इन्हीं से॥
चार अवस्था तीन गुणों की।
विशेष, अविशेष, लिंग, अलिंगी॥

विशेष हैं सोलह ऐसे जानो।
पांच महाभूत पहचानो॥
पांच ज्ञान और पांच कर्म की।
इन्द्रिय में इक जोड़ो मन भी॥
छः अविशेष सो सुन लीजे।
पांच तनमात्र अहंकार इसी में॥
लिंग एक बस चित है अपना।
मूल प्रकृति अलिंग समझना॥
दृष्टा देखे देखनहारा।
शुद्ध बुद्ध जो अपरम्पारा॥
साथ चित्त के यह मिल जाता।
जैसी वृत्ति, वैसा बन जाता॥
ब्रह्माण्डों का खेल यह सारा।
दृष्टा के ही लिये संवारा॥
जीव जो मुक्ती पा जाता है।
उसका खेल तो मिट जाता है॥
नहीं मिटती गुण सृष्टी सारी।
सब जीवों की साझेदारी॥
दृष्टा के स्वरूप को जान।
रूप दृश्य का भी पहचानो॥
ज्ञान से परदा फट जायेगा।
मोक्ष इस से मिल जायेगा॥
यह संयोग असाधारण है।
एक अविद्या ही कारण है॥

मिटी अविद्या, छूटी माया।
गर्भ जाल का हुआ सफाया॥
'धन' यही कहा जाता है।
कैवल्य इसी से मिल जाता है॥
विवेक ख्याति है ज्ञान उपाय।
अपरोक्ष ज्ञान भी यही कहाये॥
सात प्रकार की सब से ऊंची।
योगी की हो जाती बुद्धी॥
पुष्प ज्ञान का खिल जाता है।
गुणातीत फिर कहलाता है॥
योगाङ्गों का पालन हो जब।
अशुद्धिक्षय हो जाती है तब॥
आठ अङ्ग अष्टाङ्ग योग है।
मिट जाता अज्ञान रोग है॥
आठ अङ्गों के नाम बताऊँ।
एक एक कर के समझाऊँ॥
यम-नियम आसन कर लेना।
प्राणायाम से बल भर लेना॥
प्रत्याहार और धारणा ध्यान।
समाधि आठवाँ अङ्ग पहचान॥
यम होता है पांच अङ्ग का।
यही सहारा परम धर्म का॥
अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य।
अपरिग्रह धारो, पर धैर्य॥
महाव्रत यह बड़ा महान।
सब पुण्यों की है यह खान॥
कोई देश हो कोई जाती हो।
समय कोई हो पालन कर लो॥
दुख नहीं देना किसी जीव को।
सत्य वचन कहना सब ही को॥
चोरी भूले भी नहीं करना।
पर तिरया को मात समझना॥
आवश्यकता के ही अनुसार।
धन सम्पत रखो घर-बार॥

नियम स्वयम है पालन करने।
शौच संतोष और तप है करने॥
स्वाध्याय प्रभु ओइम् नाम का।
वेद शास्त्रों को भी पढ़ना॥
ईश्वर प्रणिधान प्रभु भक्ती।
इससे मिलती पूरण शक्ती॥
दुर्बल मन को कभी न करना।
यम नियमों का पालन करना॥
यदि विचार बुरे आ जायें।
प्रतिपक्ष के भाव उठाएं॥
हिंसा आदि वितर्क भाव है।
यह वितर्क तो तीन प्रकार है॥
स्वयं करो या तुम करवाओ।
या समर्थन देय उभारो॥
जुम्मेदारी तुम पर आती।
लोभ, क्रोध मोह इस में साथी॥
यह मृदु, मध्य, तीव्र होते हैं।
दुःख अज्ञान का फल देते हैं॥
मन से कहो अरे मूरख मन।
न खो पापों में जीवन धन॥
यदि अहिंसा दृढ़ हो जावे।
निकट जो आवे वैर भगावे॥
सदा सत्य जो बोले भाई।
वचन वृथा न उस का जाई॥
जो योगी चोरी नहीं करता।
रत्नों की वह झोली भरता॥
ब्रह्मचारी को वीर्य लाभ है॥
बल बुद्धि से भरा भाग्य है॥
अपरिग्रह दृढ़ता से पाले।
ज्ञान सभी जन्मों का पा ले॥
शौच शारीरि शुद्धि बढ़ती।
अपने जिस्म से ममता घटती॥
मल मूत्र का थैला जाने।
फिर आतम को ही शुद्ध माने॥

(शेष पृष्ठ २३ पर)

● श्री पूर्णचन्द्र शास्त्री

# ईश्वर प्रणिधान अथवा भक्तियोग

ईश्वर प्रणिधान योग प्राप्ति का एक उत्कृष्ट तथा सुगम मार्ग है। यह वह साधन जो कि सब साधनों से सरलतम तथा सभी प्रकार के साधकों के लिए कल्याणकारी है। ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है—अनन्य शरण-गति, शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, अन्तःकरण आदि सब बाह्य तथा आभ्यन्तर करणों, उनसे होने वाले सभी कर्मों और उनके फलों को अर्थात् अपने सारे जीवन को ईश्वर के समर्पण कर देना, ईश्वर ही मेरे सर्वस्व हैं, वे ही मेरे प्राणाधार, माता-पिता, बंधु तथा सखा हैं, वे मेरे हैं और मैं उनका हूँ—इस प्रकार का दृढ़ निश्चय रखते हुए हर स्थिति में प्रसन्न-चित्त एवं सन्तुष्ट रहना तथा अपने इष्टदेव का हर क्षण चिन्तन करते रहना और अपने गुरु-मन्त्र का अधिकाधिक जाप करना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है।

ईश्वर सब जीवों के परम आश्रय, परम सखा एवं अहैतुक कृपालु हैं। जो व्यक्ति सच्चे हृदय से उनकी शरण ले लेता है उसका पूरा भार वे दयासागर स्वयं उठा लेते हैं। भगवान ने स्वयं अपने मुखारविन्द से इस बात को स्वीकार किया है—

सकृदेव प्रपन्नाय

तवास्मीति य:चते।

अभयं सर्वभूतेभ्य:

ददाम्येतद् व्रतंमम्।

(वाल्मीकि रामायण)

जो मनुष्य 'हे प्रभो! मैं आपका हूँ' इस भाव से केवल एक बार भी अपने को सब ओरसे मेरे अर्पण कर देता है, उस सच्चे हृदय से प्रार्थना करने वाले भक्त को अपनाकर मैं उसे सम्पूर्ण प्राणियों से सर्वथा भयमुक्त कर देता हूँ, यह मेरी प्रतिज्ञा है।

अर्जुन को भक्तियोग का उपदेश करते हुए अखिल लोकनायक श्रीकृष्ण ने भी इस बात की घोषणा की है कि जो साधक मेरी अनन्य शरण ले लेते हैं उनका योग और क्षेम मैं वहन करता हूँ।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां

ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां

योग क्षेमं वहाम्यहम्॥

जो अनन्य भक्तजन मुझे परमेश्वर को निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं उन नित्य-निन्तर मेरा चिन्तन करने वाले पुरुषों का योग क्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ। अर्थात् उनको मैं भगवत्स्वरूप की प्राप्ति करा देता हूँ और भगवत्प्राप्ति के निमित्त किये गये उनके साधन की रक्षा भी मैं स्वयं करता हूँ।

"ईश्वर प्रणिधान" अष्टाङ्गयोग का एक महत्वपूर्ण अंग है। इसके बिना योगमार्ग में विशेष प्रगति नहीं हो सकती। क्योंकि योग-मार्ग में आने वाले विघ्नों की निवृत्ति ईश्वर प्रणिधान से ही होती है।

योग-दर्शन के साधनपाद में नियमों के अन्तर्गत तथा क्रियायोग के अन्तर्गत ईश्वर प्रणिधान का वर्णन किया गया है तथा उसका फल बताया गया है—समाधि लाभ। जैसे—

समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्।

अर्थात् ईश्वर प्रणिधान से समाधि सिद्ध होती है।

समाधिपाद में समाधि-प्राप्ति के विविध उपायों का वर्णन करते हुए महर्षि पतञ्जलि-देव जी महाराज ने सूत्र संख्या २३ से २९ तक ईश्वर का लक्षण तथा ईश्वर प्रणिधान का स्वरूप एवं उसका फल बताया है। जैसे—

ईश्वर प्रणिधानाद्वा।

(योग सूत्र १/२३)

ईश्वर प्रणिधान अर्थात् ईश्वर की अनन्य शरणागति से भी निर्बीज समाधि सिद्ध हो जाती है।

तस्य वाचक प्रणवः।

(योग सूत्र १/२७)

उस ईश्वर का नाम 'ओम' है।

तज्जपस्तदर्थ भावनम्।

(योग सूत्र १/२८)

साधक को ईश्वर के नाम का जप करना चाहिये और उसके स्वरूप का चिन्तन करना चाहिये। जप के साथ अपने इष्ट का स्मरण करते रहना चाहिये। अथवा—

जप श्रान्तः शिवंध्यायेत्-<br>
ध्यान श्रान्तः शिवं जपेत्।

जप के बाद ध्यान करे और ध्यान के बाद जप करे। इससे सभी अन्तरायों की निवृत्ति हो जाती है और साधक का मार्ग प्रशस्त होता चला जाता है। जैसे—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तराय-भावश्च।

(योग सूत्र १/२९)

ईश्वर के नाम का जप और उसका ध्यान करने से योगमार्ग के सभी अन्तराय दूर हो जाते हैं और परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।

योग का मुख्य उपाय अभ्यास और वैराग्य साधन तो समाहित चित्त वाले आम अधिकारी ही कर सकते हैं किन्तु विक्षिप्त चित्त वाले मध्यमाधिकारी, जिनका चित्त सांसारिक विषय वासनाओं तथा राग-द्वेष से मलिन है उनके लिए ईश्वर-प्रणिधान ही योग प्राप्ति का एकमात्र साधन है। प्रणिधान अर्थात् अनन्य चिन्तन के प्रभाव से साधक के राग-द्वेष आदि मल दूर हो जाते हैं तथा उसे भोगों से वितृष्णा एवं कर्म-फल में अनासक्ति हो जाती है, जिससे उसका अभ्यास और वैराग्य स्वतः ही सिद्ध हो जाता है।

श्रीमद्भागवद्गीता में ईश्वर प्रणिधान का स्वरूप एवं उसका फल इस प्रकार बत-लाया गया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा,<br>
बोधयन्तः परस्परम्।<br>
कथयन्तश्च मां नित्यं,<br>
तुष्यन्ति च रमन्ति च॥<br>
तेषां सतत युक्तानां,<br>
भजतां प्रीतिपूर्वकम्।

ददामि बुद्धियोगं तं,
येन मामुपयान्ति ते ॥

अनन्य चिन्तन में अद्भुत शक्ति है, जो व्यक्ति सर्वतोभावेन प्रभु का भजन करता है वह प्रभु में ही मिल जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, श्रीमद्भागवत्पुराण का वचन है—

विषयान्ध्यायतो चित्त
विषयेषु विसज्जति ।
मामनुस्मरतो नित्य
मय्येव प्रविलीयते ॥

विषयों का चिन्तन करने से मन विषयों में ही रचा-पचा रहता है और मुझे परमेश्वर का चिन्तन करते रहने से वह मुझ में ही लीन हो जाता है।

प्रभु चरणों का अनन्य चिन्तन करने वाले ध्यानाभ्यासी तथा गुरु-मन्त्र का अधिकाधिक जाप करने वाले श्रद्धालु साधक उक्त सिद्धान्त की सत्यता को अवश्य स्वीकार करेंगे।

सामान्य जनों को भी अखिलात्मा श्रीकृष्ण के इस वचनामृत पर विश्वास करके साधना-परायण बन जाना चाहिये :—

अपि चेत्सुदुराचारो
भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः
सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा
शश्वच्छान्ति निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न
मे भक्तः प्रणश्यति ॥

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी मेरा भक्त होकर अनन्य भाव से मेरा भजन करता है तो वह साधु ही मानने योग्य है। क्योंकि उसने भली-भाँति निश्चय कर लिया है कि ईश्वर भजन के समान श्रेष्ठ कार्य अन्य कुछ नहीं है।

भजन के प्रभाव से वह शीघ्र ही धर्मात्मा बन जाता है और सदा रहने वाली परम शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक जान कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता।

ईश्वर की शरणागति को ही भक्ति-योग कहा जाता है। भक्ति शब्द की व्युत्पत्ति भज-धातु से हुई है, जिसका अर्थ है—सेवा! शाण्डिल्य भक्ति सूत्र में भक्ति की परिभाषा इस प्रकार की गई है—"सा परानुरक्ति-रीश्वरे", अर्थात् अपने इष्ट में परम अनुराग होना ही भक्ति है।

भक्ति नौ प्रकार की बताई गई है। जैसे :—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः
स्मरणम् पाद सेवनम् ॥
अर्चनं वन्दनं दास्य
सख्यामात्मं निवेदनम् ॥

महापुरुषों से ईश्वर की लीलाओं को को सुनना तथा शास्त्रों को पढ़ना, श्रद्धालु-जनों के साथ प्रभु का गुणगान करना, ईश्वर का हर समय स्मरण करते रहना, गुरु-चरणों की सेवा करना, प्रभु का मानसिक पूजन, वन्दन, दास्यभाव से उनकी सेवा करना, सखाभाव से आत्मीयता रखना और समर्पण-भाव अर्थात् प्रणिधान यह नौ प्रकार की भक्ति है।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने शबरी को इस नवधा भक्ति का उपदेश दिया था। यथा :—

नवधा भक्ति कहौं तोहि पाहीं।
सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
प्रथम भक्ति सन्तन कर संगा।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरुपद पंकज सेवा तीसरि भक्ति अमान।
चौथी भक्ति मम गुनगन करइ कपट तजि गान॥
मन्त्रजाप मम दृढ़ विश्वासा।
पंचम भजन सो वेद प्रकासा॥
छठ दम शील बिरति बहु करमा।
निरत निरन्तर सज्जन धर्मा॥
सप्तम सब मोहिमय जग देखै।
मोतें सन्त अधिक कर लेखै॥
अष्टम यथा लाभ सन्तोषा।
सपनेहुँ नहि देखै परदोषा।
नवम सरल सब सन छल हीना।
मम भरोस हिय हरष न दीना॥

(१) सन्तों का सत्संग करना तथा श्रद्धा-पूर्वक उनका उपदेश सुनना प्रथम प्रकार की भक्ति है। इसे श्रवण भक्ति कहा जाता है।

(२) ईश्वर की लीला कथाओं में प्रेम रखना तथा उनका गुणगान करना यह दूसरे प्रकार की भक्ति है।

(३) अभिमान को त्यागकर गुरुदेव के चरण कमलों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना तीसरे प्रकार की भक्ति है।

(४) निष्कपट-भाव से ईश्वर का गुणगान करना चौथी प्रकार की भक्ति है।

(५) मन्त्र का जप करना तथा अपने इष्ट में दृढ़ विश्वास रखते हुए निरन्तर अनन्य भाव से प्रभु का चिन्तन करना पाँचवीं प्रकार की भक्ति है।

(६) इन्द्रिय दमन, आदर्श व्यवहार, कर्मों में अनासक्ति तथा सज्जनों के धर्म में निरन्तर उत्साह पूर्वक लगे रहना छठी भक्ति है।

(७) सारे संसार को प्रभुमय देखना तथा सन्तों को ईश्वर से भी श्रेष्ठ समझकर उनकी अधिक से अधिक सेवा करना सातवीं भक्ति है। क्योंकि सन्तों का स्थान ईश्वर से भी ऊँचा है। भक्त कबीर का यह कथन ध्यान देने योग्य है।

हरि सों तु जनि हेत कर,
कर हरिजन सों हेत।
माल मुलुक हरि देत है,
हरिजन हरि ही देत॥

(८) अपने पास जो कुछ है उसी में सन्तोष कर लेना तथा स्वप्न में भी दूसरों का दोष न देखना यह आठवीं प्रकार की भक्ति है।

(९) सबके साथ सरल तथा छल रहित व्यवहार करना तथा ईश्वर पर दृढ़ विश्वास रखते हुए किसी भी स्थिति में हर्ष या शोक न करना यह नौवीं भक्ति है।

भक्ति-योग भवसागर को पार करने के लिए एक सुदृढ़ नौका है। प्राणायामादि हठ-योग की कष्ट साध्य क्रियायें हर व्यक्ति नहीं कर सकता और न अभ्यास वैराग्य रूप योग-साधन सबके लिए सम्भव है। उपरोक्त साधना में साधक को अपने साधन की चिन्ता रहती है और साधना में प्रगति न होने पर दुःख होता है किन्तु भक्ति-योग में सच्चे हृदय से ईश्वर की शरण ले लेने के पश्चात् उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता। उसका सारा भार वे दयामय प्रभु स्वयं उठा लेते हैं। भक्तियोगी चिन्ता का भार अपने प्राणाधार इष्टदेव पर छोड़कर स्वयं प्रभु चिन्तन में मग्न रहता है। उसके सभी कार्य ईश्वर की प्रसन्नता के लिए ही होते हैं। अतः उसे कर्मफल की इच्छा नहीं रहती। भक्तियोगी अपनी अनन्य भक्ति के प्रभाव से विपत्ति के पहाड़ को हँसते-हँसते पार कर जाता है। कोई भी भौतिक शक्ति उसका सामना नहीं कर

सकती। मीरा तथा प्रह्लाद के पावन जीवन चरित्र इस बात के मूर्तिमान उदाहरण हैं। भगवत् शरणागत भक्त योग की सभी सिद्धियों का स्वामी होता है। राम भक्त हनुमान की योग लीलायें इस बात को सिद्ध करती हैं।

महापुरुषों ने भक्ति की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। मुनिजन भक्ति का ही वरण करते आये हैं। यहाँ तक योगेश्वर भगवान श्री शंकर भी अपने इष्ट उस परम प्रभु से भक्ति का ही वर माँगते हैं। जैसे :—

बार बार बर माँगहु हरषि देहु श्रीरंग।
पदसरोज अनपायनी भक्ति सदा सत्संग ।।

(रा० च० मानस—उ० का०)

बिना भक्ति के राजयोग सिद्ध नहीं हो सकता। अतः योगाभ्यासी साधकों को चाहिए कि वे अपनी साधना में ईश्वर प्रणिधान को अवश्य स्थान दें।

प्रभु कृपा से जिन सौभाग्यशाली साधकों को गुरुदेव की प्राप्ति हो चुकी है उन्हें अनन्य-भाव से गुरुदेव के चरण-कमलों का चिन्तन करते रहना चाहिये तथा गुरुदेव की आज्ञा का पालन करते हुए गुरुमन्त्र का अधिक से अधिक जप करना चाहिये। यदि इतनी साधना हमसे हो जाय तो शेष कार्य वे सर्व-शक्तिमान स्वयं पूरा करा देंगे।

जिन्हें अभी गुरुदेव की शरण न मिली हो उन्हें निष्कामभाव से श्रद्धा भक्ति पूर्वक परमेश्वर को अथवा अपने इष्टदेव को ही गुरु मानकर उनके शरणागत हो जाना चाहिये। वे गुरुओं के गुरु दीन-बन्धु परमात्मा स्वयं ही उनका मार्ग-दर्शन करते रहेंगे।

( शेष पृष्ठ १८ का )

संसर्ग दूसरों से ना रखता।
एकान्तवास अच्छा है लगता ।।
मन अपना जब शुद्ध हो जावे।
एकाग्रभाव इन्द्रियजय पावे ।।
आत्मदर्शन योग्य बने वह।
जीवन अपना सफल करे वह ।।
सन्तोष हृदय में जब आ जावे।
उत्तम से उत्तम सुख पावे ।।
तप से पूरण शुद्धि होती।
बढ़ जाती है आतम ज्योति ।।
स्वाध्याय जो खूब बढ़ाते।
इष्ट देव के दर्शन पाते ।।
ईश्वर भक्ति समाधि पाता।
जन्म जन्म का दुःख मिट जाता ।।
स्थिर सुखदाई आसन होता।
मन एकाग्र है इससे होता ।।
शून्य जैसा मन को कर लो।
आसन का फिर पूरा फल लो ।।

द्वन्द्व चोट उसको ना लगती।
जिसको होवे आसन सिद्धी ।।
चारों प्राणायाम भी आवे।
स्थान और अभ्यास सिखावे ।।
पूरक, कुम्भक रेचक जानो।
प्राणायाम के रूप पहिचानो ।।
लम्बे-हलके श्वास चलत हैं।
जिनसे ये इनको भरत हैं ।।
सूता निरोध प्राणों का होवे।
चौथा प्राणायाम कहावे ।।
विवेक ज्ञान का सूरज चढ़ता।
फल महान है इसका ऐसा ।।
योग्यता बढ़ जावे ऐसी।
करो धारणा चाहो जैसी ।।
इन्द्रियों को अन्दर मोड़ो।
बहिर्मुखी परवाह को तोड़ो ।।
प्रत्याहार है इसको कहते।
मन इन्द्रि सदा वश में रहते ।।

● डॉ० विजयसिंह

# महाभारत में शक्तिपातोपाख्यान

सर्व-योनियों में मानव काया का विशेष महत्व माना गया है। पशु से पशुपति बनने की सम्भावना मनुष्य योनि में ही है। अन्य योनियाँ भोगायतन हैं। मनुष्य देह को पाकर कर्म और भोगका सामरस्य, रहस्य का उद्घाटन सम्भव हो पाता है। तन्त्र वाङ्मय कुण्डलनी शक्ति का मानव कायामें काम तन्त्रिकाओं के पास होना तथा इसके जागरण से मनुष्य में अतिन्द्रिय बोध के जागरण का हो जाना बताता है। सारी साधनायें अनन्त ऊर्जा के इस स्रोत को जागरण करनेके लिए ही हैं। प्राणायाम व मानस एकाग्रता से कुण्डलनी आघात पाकर ऊर्ध्व गति को प्राप्त होती है। वही सांसारिक कामनायें, दुश्चिन्तायें और सर्वथा कामोद्दीपक प्रसंग, इस ऊर्जा को अधोगति प्रदान करती हैं।

पौराणिक ग्रन्थों के प्रणयन से यह निर्विवाद सत्य प्रकट होता है कि महाशक्ति कुण्डलनी के जागरण में शक्तिपात की विधि ही अत्यन्त सहज है। परन्तु शक्तिपात के भी नाना भेद हैं। शक्तिपात कर्ता के भी भेद हैं। पूर्ण सद्गुरु ही यथार्थ शक्तिपात करके साधक को उसके स्वरूप में प्रतिष्ठित कराने में सक्षम हैं। वैसे सिद्ध, विशेष देव यहाँ तक कि विशेष मन्त्र पूत मनुष्य भी अपने सामर्थ्य से शक्तिपात कर साधारण मानव में विशेष प्रकार की क्रिया सिद्धि पैदा कर सकते हैं। दिवंगत आचार्य रजनीश ने शक्तिपात को आध्यात्मिक ऊर्जा का नियन्त्रित अवतरण माना है। अनन्त शक्ति तो परमेश्वर की ही है। सद्गुरु के माध्यम से शक्ति का अवतरण शिष्य में पहुँच सकता है और उतना ही पहुँचता है जितना उसे आवश्यक है।

कुण्डलनी को जगाने का जो गहरा अर्थ तो यह है कि इतनी अत्यधिक ऊर्जा हमारे पास हो कि हमारी स्थूल इन्द्रियाँ उसको वहाने में समर्थ न रह जायें। तब अनिवार्यरूपेण उस ऊर्जा को नये सूक्ष्म द्वारों पर चोट करनी पड़ेगी और तब नई इन्द्रियाँ जगनी शुरू हो जायेंगी। उनसे टेलीपेथी (दूसरों के मनोभाव को ग्रहण एवं स्व-विचार का सम्प्रेषण), क्लेरवायन्स (दूर दृष्टि) होगा। ऐसा कुछ दिखाई सुनाई पड़ने लगेगा जिनके लिए कान और आँख की जरूरत नहीं पड़ेगी। इन्हीं आन्तरिक इन्द्रियों के पूर्ण विकास से आत्मा (सूक्ष्मतम अदृश्य छोर) की प्रतीत होगा। कुण्डलनी के जागरण से ही आत्मबोध का पाठ पढ़ा जायेगा।

अतः शक्तिपात से साधारण से साधारण जीव में परम रूपान्तरण घटित होने लगता है। श्री ज्ञानदेव जी के शक्तिपात से भैंसे के पड़वे द्वारा वेदघोष की कथा का बोल कल्पित नहीं है पुराणों में वर्णित कथानकों के अप्रतिम रहस्य को मात्र वे ही लोग अनुभव करते हैं, जिनमें अतिन्द्रीय शक्ति जागृत हो चुका है। इसी शताब्दी के सन्त विशुद्धानन्द जी ने अनेक

विद्वतजनों के सन्देह निवारण हेतु अपने नाभिकुण्ड के मर्दन द्वारा एक दिव्य कमल निकालकर दिखाया था, जिससे अपूर्व अनुभूत पद्म गन्ध सम्पूर्ण वातावरण में फैल उठा था। उन्होंने कहा कि ब्रह्मा की उत्पत्ति पुराणों में भगवान विष्णु के नाभि-कमल से बताया गयी है वह सत्य है। परन्तु इस हेतु तुम्हें योग में पारंगत होना होगा तभी आर्षग्रन्थों के रहस्य को जान सकोगे।

भगवान वेदव्यास रचित महाभारत में योगोपाख्यान भरा पड़ा है। गुरुभक्तों एवं शक्तिपात से चमत्कृत जीवों की कथायें यत्र-तत्र भरी पड़ी हैं। उन कथाओं का संकलन इस लेखमाला का किंचित् प्रयास मात्र है।

महर्षि आयोदधौम्य व आरुणि :

गुरुगीता में एक बड़े ही महत्व का श्लोक वर्णित है :—

> ज्ञान-विज्ञान मुक्तिश्च,
> लभ्यते गुरु भक्ति तः।
> गुरोः समस्ततो नान्यत,
> साध्योऽसौ गुरुमार्गिणा ॥

गुरुदेव की भक्ती (उनकी प्रसन्नता) से ज्ञान-विज्ञान और मोक्ष प्राप्त होता है। गुरु मार्ग के अवलम्बन करने वाले को गुरु ही साध्य है।

पांचाल देश (पंजाब) का एक किशोर वय का बालक आरुणी महर्षि आयोदधौम्य का शिष्य था। एक दिन खूब जोरों की वर्षा हो रही थी। आँधी-तूफान बादलों की उमड़-घुमड़ तड़ित टंकार हो रही थी। महात्मा गुरुदेव ने बालक आरुणी को बोला—बेटा धान के खेत के कमजोर मेड़ इस वर्षा से कहीं टूट न गई हों। अतः टूटी मेड़ों को बाँध आओ। गुरुदेव के आदेश को शिरोधार्य कर आरुणी ने धान के खेतों पर जाकर निरीक्षण किया। एक जगह टूटी हुई मेड़ से जल-प्रवाह हो रहा था। वह मेड़ बाँधने लगा। परन्तु न बाँध सका। मेड़ को बार-बार अथक प्रयास से बाँधने पर भी जल का तीव्र-प्रवाह उसे तोड़े डाल रहा था। अचानक उसे एक उपाय सूझा। वह मन ही मन बोल उठा—अच्छा ऐसा ही करूँ। वह टूटी मेड़ से चिपककर स्वयं लेट गया। उसके लेट जाने से वहाँ का बहता जल रुक गया।

कालान्तर में गुरुदेव ने अन्य शिष्यों से पूछा—वह आरुणी कहाँ है? एक शिष्य ने कहा, प्रभो आपने ही उसे टूटी हुई मेड़ों को बाँधने हेतु भेजा था। तब गुरुदेव ने कहा—चलो हम सब भी वहीं चलें। खेतों पर जाकर सभी ने देखा, आरुणी कहीं खड़ा दिखाई नहीं देता। महात्मा गुरुदेव ने आवाज दी। वत्स आरुणी, यहाँ आओ। घण्टों शीतल जल, प्रचण्ड वायु थपेड़ों को गुरुभक्त अनुरक्त आरुणी सहता रहा था। उसे जब श्री गुरुदेव की वाणी सुनाई पड़ी तो वह तत्काल उठ खड़ा हुआ और विनम्रतापूर्वक बोला—भगवन्! मैं यहाँ हूँ, क्यारी की टूटी हुई मेड़ से निकलते हुए जल को रोकने हेतु स्वयं यहाँ लेट गया था। इस समय आपकी आवाज सुनते ही सहसा उस मेड़ को विदीर्ण अवस्था में छोड़कर आ खड़ा हूँ। भोले निर्मल अन्तःकरण वाले आरुणी की अवस्था, आज्ञा पालन की तत्परता को देख गुरुदेव आह्लादित हो उठे और बोले—बेटा आज से तेरा नाम उद्दालक प्रसिद्ध होगा। ऐसा कहकर उसे कण्ठ से लगा अनुग्रहीत किया :

भविष्यतीत्युपाध्यायेनानुगृहीतः।

तथा साथ ही साथ यह भी कहा :

**यस्माच्च त्वया मदवचनमनुष्ठितं तस्माच्छ्रेयोऽवाप्स्यसि। सर्वे च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्म-शास्त्राणिति।**

(पौ०प० २२)

तुमने मेरी आज्ञा का पालन किया है, तुम कल्याण के भागी होगे। सम्पूर्ण वेद और समस्त धर्मशास्त्र तुम्हारी बुद्धि में स्वयं प्रकाशित हो जावेंगे।

देने वाले सर्व समर्थ सद्गुरुदेव ने आज्ञा-निष्ठ गुरुचरणों पर न्यौछावर होने वाले शिष्य आरुणी को सर्व कल्याण का अमोघ आशीष तथा तीव्र शक्तिपात द्वारा उसके अन्दर निहित शक्ति का उद्दीपन कर दिया। ऐसे निश्चल गुरु को ही सब कुछ समझने वाले शिष्यों को स्वयमेव ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति हो जाया करती है। श्री गुरुगीता में इसी आशय का एक श्लोक आता है :

एवं विधं गुरु ध्यात्वा
ज्ञानमुत्पद्यते स्वयम्।
तदा गुरुपदेशे न मुक्तो
ऽहमित भावयेत्॥

**श्रुति स्मृतिम विज्ञाय,**
**केवलम गुरु सेवकाः।**
**ते वै सन्यासिनः प्रोक्ता**
**इतरेवेष धारिणः॥**
**गुरोः कृपा प्रसादेन,**
**स्वात्मारामो हि लभ्यते।**
**आनेन गुरु मार्गेण,**
**हृयंतर्ज्ञानं प्रवर्तते॥**

अर्थात अनन्य भाव से श्री गुरुदेव का ध्यान करने वाले को ज्ञान स्वतः उत्पन्न होता है। जो गुरु सेवक हैं, वे आत्मानन्द स्वरूप को प्राप्त होते हैं। इस पथ में अनन्त ज्ञान उदय होता है।

यह पथ क्या है? बिना साधना के स्वतः संचित का ज्ञान कैसे सम्भव है? इन बातों का रहस्य शक्तिपात साधक के अनन्य शरणागत भाव तथा कुण्डलनी जागरण में निहित है। सद्गुरु की प्रसन्नता से अहेतुक चिद्शक्ति की बौछार शिष्य पर होती है। जन्मजन्मान्तर से सुप्त मानव उर्जा का गुप्त स्रोत खुल जाता है और साथ ही अतिन्द्रियों के माध्यम से नाना ज्ञान-विज्ञान का बोध होने लगता है। कबीर, नानक, मीरा, नामदेव, ज्ञानदेव, गरीबदास तमाम संतों को बोध सद्गुरु की कृपा से हुआ था। आज भी हो रहा है।

---

माला फेरत जुग गया, मिटा न मन का फेर।
करका मनका छाड़ि के, मनका मनका फेर॥

—सन्त कबीर

● श्री विष्णुप्रसाद व्यास

# माया के धोखे से बचो

विचार इस बात का करना है कि यह जीव सुख शान्ति और आनन्द का भंडार होता हुआ भी दुःख भरा जीवन क्यों व्यतीत कर रहा है ? प्रायः संसारी मनुष्य दुःख और क्लेश से जो घिरा हुआ दिखाई देता है ऐसा क्यों है ? जबकि यथार्थ में यह जीव उस परमात्मा का अंश है जो स्वयं सच्चित् और अविनाशी है। परमात्मा का अंश होने के नाते से यह स्वयं भी सुख स्वरूप और आनन्द स्वरूप है। परमात्मा जीव के घट में निवास करता है इस विचार से यह जो परम सुख और शान्ति का भण्डार है वह इसी के अन्दर है फिर भी यह जीव संसार में दुःखी रहता है। जीव की इस दशा पर महापुरुषों को दुःख और खेद के साथ-साथ आश्चर्य भी होता है और वे इस जीव को दुःख से छुड़ाने का उपाय भी बताते हैं।

संसार में रहता हुआ मानव दिन रात दुःख और क्लेश का शिकार है, इसका कुछ कारण भी तो होना चाहिये। महापुरुष बतलाते हैं कि इसका कारण केवल यह है कि यह जीव उस परमपिता परमात्मा से मिलने की इच्छा नहीं करता। इसकी जगह वह माया और उसके पदार्थों की चाह करता है। यही गलत चाह और इच्छा ही इसके सम्पूर्ण क्लेशों का आधारभूत कारण है।

महापुरुष समझाते हैं कि माया की चाह मिथ्या है। माया तो प्रभु की और भक्त की दासी है। यदि यह माया की जगह प्रभु की चाह करे और उनके चरणों से प्यार करे तो माया उनके पीछे स्वयमेव चक्कर काटेगी क्योंकि माया प्रकृति तो उसकी छाया है। छाया तो सदा पुरुष के पीछे-पीछे और उसके साथ लगी रहती है। पुरुष को छाया के पीछे भागना शोभा नहीं देता।

दोहा

माया छाया एक-सी, बिरला जाने कोय।
भगता के पीछे फिरे, सम्मुख भागे सोय॥

—कबीर

उदाहरण के रूप में जो व्यक्ति सूर्य की ओर मुख करता है उसकी परछाई स्वयमेव उसके पीछे चली आती है परन्तु जो सूर्य की ओर पीठ कर लेता है तो उसकी छाया आगे और वह उसके पीछे रहता है। इस रूप में चाहे वह लाखों कोस तक छाया का पीछा करे परन्तु कभी भी छाया उसके हाथ में नहीं आ सकती। छाया को पकड़ने की सरल विधि यह है कि भगवान सूर्य की ओर मुख कर लिया जाय, तो तुम छाया को अपने साथ-साथ और पीछे लगी हुई पाओगे।

ठीक इसी तरह जो मनुष्य माया की की ओर पीठ करके प्रभु की ओर मुख करता

है तो माया उसके पीछे भागती चली आती है। किन्तु जो पुरुष प्रभु को पीठ देकर माया के अभिमुख होता है तो माया उससे दूर भागती है और कदापि उसके हाथ नहीं आती। अतएव महापुरुष समझते हैं कि माया की ओर मुख करने में कदापि सुख नहीं है अपितु माया को तो पीठ देने में ही लाभ है जिससे वह तुम्हारे पीछे पीछे फिरा करे।

बस माया का स्वभाव है कि जो इसकी तरफ पीठ करे, उसकी उपेक्षा कर दे, यह उसके पीछे भागती है। और जो कोई इसे चाहे यह उसके निकट नहीं जाती।

ध्यान दो कि माया की क्या सत्ता है जो तुम इसके पीछे पड़कर निरर्थक दुखी और व्याकुल हो रहे हो और यथार्थ को भूलकर वृथा भ्रान्ति में पड़ गये हो। माया क्या वस्तु है ? इसे तो वस्तुतः मृग तृष्णाका जल अथवा इसे धुँए का पहाड़ समझ लेना चाहिए। मृग तृष्णा का जल वस्तुतः कोई तत्व नहीं। किन्तु न होते हुए भी जल दिखाई देता है। इसी तरह धुँए से बना पहाड़ भी वास्तव में कुछ भी नहीं होता किन्तु न होते हुए भी देखने वाले को वह पर्वत नजर आता है। इसी तरह माया कुछ न होते हुए भी देखने वालेको वह पर्वत जैसी नजर आती है। इसी तरह माया कुछ न होती हुई भी प्रतीत होती है। यह केवल उसका आभास है अथवा यों कहिए कि जैसे मृग तृष्णा और धुँए का पहाड़ मात्र भ्रान्ति है वैसे ही यह माया है। अर्थात् जो वस्तु कुछ न होती हुई भी भ्रान्ति या भ्रम के कारण बहुत बड़ी मालूम हो उसी का नाम माया है। बस यही कुछ माया का सत्य, तथ्य स्वरूप है।

सब जानते हैं कि मृग तृष्णा केवल एक भ्रम है। मरुभूमि में तो कोसों तक भी कहीं जल का निशान तक नहीं होता किन्तु भ्रान्ति करके हिरन को रेत में जल भासता है। गर्मी की ऋतु में दोपहर की कड़कती चिल-चिलाती धूप में जब रवि रश्मियाँ रेत पर सीधी पड़ती हैं तो रेत के कण यों चमकने लगते हैं जैसे पानी की कोई झील ठाठें मार रही हो। प्यासा जंगली मृग दूर से इस चम-कती रेत को जल भरी नदी समझ कर उसके पीछे भागता है और कोसों तक दौड़ता ही चला जाता है। किन्तु वहाँ पानी हो तो उसकी पिपासा शान्त हो। वह मृग तृष्णा जल से प्यास बुझाना चाहता है जो सर्वथा असम्भव है। कोसों दूर तक भाग दौड़ करने पर भी न उसे पानी प्राप्त होता है और न उसकी प्यास बुझती है। पानी तो वहाँ था ही नहीं, यह तो एक भ्रान्ति थी। नितान्त संतप्त बालु से झुलसते हुए उसके पांव, आकाश से पड़ती हुई प्रचण्ड किरणें और मीलों तक की हुई उसकी दौड़ उस हिरनके प्राणों को छीनने का कारण बन जाती हैं। इसका मूल कारण केवल उसकी भ्रान्ति ही थी जिससे वह तड़प तड़प कर मर गया।

इसी तरह माया के पदार्थों में मनुष्य को जो आनन्द प्रतीत होता है वह मृगतृष्णा जल की भांति अवास्तविक है, आँखों का धोखा है, मन की भ्रान्ति है।

इसी का शिकार हुआ जीव मायावी पदार्थों के पीछे मारा-मारा फिरता है। किन्तु उसे सुख और नित्य शान्ति प्राप्त नहीं होती। यदि कोई यह कहे कि माया के पदार्थों में सुख व शान्ति है तो क्या मानने की बात है नहीं। मृगतृष्णा की तरह सुख की झलक अवश्य भासती है किन्तु उन पदार्थों में सुख है कहाँ ? मनुष्य चाहे आठों पहर इन पदार्थों के पीछे परेशान होता रहे तो क्या उसके

चाहने से उसे सुख मिल जायगा। कदापि नहीं वह तो भ्रम और धोखे में आया हुआ है।

यदि माया और उसकी सामग्री में सुख होता तो सदा धनवान और राजा महाराजा बड़े सुखी होते क्योंकि उनके पास माया के पदार्थों की बहुतायत है किन्तु सचाई यह है कि वे सबसे अधिक दुःखी हैं।

जो सम्पूर्ण सृष्टि का राजा है और जिसके पास धन, पदार्थ मायावी सामग्री के खजाने भरे हैं, वह भी दुःखी रहता है। सुख तो उसे तभी मिल सकता है जबकि वह ईश्वर के नाम का जप करे और भजन व ध्यानाभ्यास में मन लगावे।

नाम और भक्ति की लगन के बिना सारी सृष्टि का अधिपति भी दुःखी है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि नाम और भक्ति के बिना कोई भी व्यक्ति सुखी नहीं हो सकता।

माया जड़ हो या चेतन हो दोनों ही जीव के लिए दुःख अशान्ति व बन्धन का कारण है।

दोहा—

माया कोरी नागनी, जगत रही लपटाय।
इसकी सेवा जो करे, तिसहि को वह खाय॥

यह माया तो नागिन के समान समस्त विश्व को लपेटे हुई है और यह वह नागिनी है जो इसकी सेवा करे, दूध पिलाये, पोषण करे वह उसी को डस लेती है। अतः माया से यथा सम्भव परहेज करना और दूर भागना चाहिये।

इस विश्व के विपिन में धन और कामनी नाम के दो बाघ घूमते हैं इनसे दूर भागने का प्रयत्न कर अन्यथा ये तुझे मार लेंगे। और तू पड़ा-पड़ा चिल्लाता रहेगा। यदि तू इनसे दूर नहीं भागेगा तो तू बहुत ही निर्बुद्धि सिद्ध होगा। इसने तो शृंगी ऋषि जैसे महा तपस्वियोंको भी मार गिराया है। कोई लाख प्रयत्न करे इससे बचने का परन्तु एक बार इसकी झपेट में आकर कोई बच नहीं सकता है।

ध्यान देने का विषय है यदि मनुष्य माया के धोखे में फंस कर सद्गुरु के प्रेम और भक्ति से हाथ धो बैठा तो फल यह होगा कि समय के निकल जाने पर सिवाय पश्चाताप के और कुछ भी हाथ न आवेगा।

दोहा—

आछे दिन पाछे गये,
गुरु से किया न हेत।
अब पछतावा क्या करे,
चिड़िया चुग गई खेत॥
(कबीर)

मानुष जीवन का अमूल्य समय यदि माया के धोखे में गवा दिया तो जो कार्य सिद्ध करने के थे वे यों ही बीत गये और मन में गुरु का प्रेम न बसाया तो अन्तकाल में पछताना ही पड़ेगा। जब चिड़ियों ने खेत को चट ही कर लिया तब पछतानेसे क्या लाभ।

मानुष जन्म तो हीरे जवाहरातों से भी बढ़कर है किन्तु भजन व ध्यानाभ्यास के बिना इसका मूल्य दो कौड़ी भी नहीं रहता।

दोहा—

रैन गँवाई सोय कर, दिवस गंवाया खाय।
हीरे जैसा जन्म था, कौड़ी बदले जाय॥

जीवन के एक एक श्वांस का दाम भी शब्द चर्चा से परे की वस्तु है। ऐसी बहुमूल्य जिन्दगी और तीन लोक की कीमत रखने वाला श्वांस यदि प्रमाद में बीत जाय तो कितनी बड़ी हानि है। इसलिए माया के धोखे से बचो और तू सत्ता से प्रेम लगाओ।

स्मरण रहे कि केवल सद्गुरु का शब्द ही सच्ची वस्तु है इसके अतिरिक्त सब झूठ और मिथ्या माया का रूप है। यदि मनुष्य माया पर विश्वास करता है तो प्रबल धोखा ही खायेगा।

मन और माया से बढ़कर जीव का और कोई वैरी नहीं और गुरु से बढ़कर जीव का हितैषी और सच्चा सुहृद नहीं। वही मानव सौभाग्यशाली होता है, जिसका सद्गुरुदेव के चरणों में सचन प्यार हो।

॥ चौपाई ॥

गुरु के वचन प्रतीति न जेही।
स्वप्नेहु सुगम न सुख सिधि तेही॥
(श्री रामायण बालकाण्ड)

गुरु के वचन में जिसका विश्वास नहीं वह कई जन्मों में भी भक्ति को नहीं पा सकता और न ही कभी उसे स्वप्न में भी सुख मिल सकता है।

इसलिये माया के मोह और संसार की आसक्ति से अपने मन को हटाकर सन्त सत्पुरुषों के संग जोड़ दो जो सच्चे मित्र और हितकारी हैं।

सन्त महापुरुष मरने के बाद भी साथ देने वाले हैं। यदि उनके चरणों में प्रेम होगा तो वे ही परलोक में भी सहायता करेंगे। महापुरुषों की दया का हाथ सिर पर रहेगा तो धर्मराज भी लेखा नहीं माँग सकता।

सन्तों की प्रदान की हुई पूँजी सच्चा नाम और सद्गुरु का ध्यान साथ रहे तो धर्मराज भी हिसाब-किताब लिख नहीं सकता जबकि सन्तों ने हिसाब का पृष्ठ ही फाड़ डाला है तो हिसाब कौन माँग सकता है। इस बात को वही शिष्य जान सकते हैं जो ध्यान का अभ्यास करते हैं जिन्होंने ध्यान-भजन में मन लगाया ही नहीं वे भला इसे क्या जान सकते हैं। विचार करो कि भजन-ध्यान कितना आवश्यक है। यदि ध्यान व भजनाभ्यास में प्रमाद किया जाता है तो कितनी बड़ी हानि है। भजनाभ्यास और ध्यान की कमाई तो मरने के बाद भी साथ देने वाली है।

जो माया साथ छोड़ देने वाली है उसे तो मनुष्य बराबर मन में बसा रहा है किन्तु भजन ध्यान जो अन्तकाल में साथ देने वाला है और जिसके बिना निस्तार ही नहीं, उसकी चिन्ता तक नहीं करता। क्या यह दशा अच्छी और ग्रहण करने योग्य है ?

सोचो बार-बार सोचो। और ध्यान दो। मनुष्य को संसार में भली प्रकार से सोच-समझकर कदम रखना चाहिए। यदि जीव मन माया काल और कर्म के हाथों में आ गया और चौरासी लाख योनियों के चक्र में जा पड़ा, जहाँ से वह अत्यन्त कठिनाइयों से छूट कर आया था वहीं फिर चला गया तो क्या यह श्रेयस्कर बात है ?

महापुरुष तो लाभ-हानि समझते हैं क्योंकि वे संसार में आते ही इसी ध्येय के लिये हैं। उनका उद्देश्य ही जीवों को भला बुरा बतला कर उनका कल्याण करना है। वे भी यदि लाभ-हानि की परख न करायें तो और कौन करायेगा ?

जब रस्सी की रगड़ से एक पत्थर पर भी निशान पड़ सकता है तो भजन-स्मरण और ध्यान के अभ्यास से क्या मन की मैल साफ न होगी ? अवश्यमेव होगी। इसलिये ध्यानाभ्यास में उपेक्षा कदापि नहीं करो और सदा ही माया के धोखे से बचकर रहो। इसी तरह भजन में मन लगाकर अपना जन्म सफल करें।

● श्री कृष्णकान्त शर्मा

# प्रेम योग की धारा

जब श्री सद्गुरुदेव के तीव्र शक्तिपात से हृदय के विकार क्षीण हो जाते हैं तो शिष्य के अन्दर प्रेम का निर्झर बहने लगता है वह कुछ कहना चाहता है, किन्तु शब्द साथ नहीं दे पाते। वाणी कहते-कहते गद्गद् हो जाती है। चित्त द्रवित होकर आँखों के मार्ग से आँसू बनकर आनन्द की हिलोर को बाहर निकालता रहता है। कभी हूक मारकर रोने लगता है, कभी हँसता है, उसे बाह्य बोध नहीं रहता। अतः निर्दिष्ट इष्ट से ही उसका सम्भाषण होता है। अतः निर्लज्ज होकर कभी वह गाता है तो कभी नाचता है। ऐसे भक्तयोगी से वसुधा पवित्र हो जाती है। महाप्रभु चैतन्यजी की यह दशा हर समय रहती थी। एक बार इसी प्रेम के आवेग में सूखे वृक्ष का आलिंगन कर लिया और अपने प्राण प्यारे श्रीकृष्ण की सामीप्यता का ध्यान कर हा कृष्ण ! हा कृष्ण ! ! कहकर उससे लता की तरह लिपट गये। उनके प्रेम की चेतन शक्ति ने जड़ता में चैतन्य का संचार कर दिया। जिससे शुष्क वृक्ष में हरी-हरी कोंपलें फूट पड़ीं। राम-कृष्ण परमहंस को भी चलते-फिरते अपने इष्ट का ध्यान आते ही भाव समाधि हो जाती थी, उस अवस्था में चेतना का अभाव इतना तीव्र होता है कि यदि उसको किसी से स्पर्श हो जाय तो उसको भी करेण्ट लग जाता है। स्वामी विवेकानन्द जी को भी इसका कई बार अनुभव हुआ था। श्रीमद्भागवत् में इसी सिद्धान्त का उल्लेख महर्षि वेद-व्यासजी महाराज करते हैं :—

> एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या, जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
> हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
>
> श्रीमद्भागवत् ११ / २ / ४०

अपने प्रिय का नाम सुनते ही प्रेम का सागर हृदय में हिलोरें लेने लगता है और चित्त द्रवित होकर तीव्र गति से प्रभावित होने लगता है कभी वह प्रिय के साथ बातचीत करता, हँसता है, चिल्लाता है, रोता है, गाता है, पागलों की तरह नृत्य करता है।

परम योगिनी ब्रज गोपियों की साधना प्रेमयोग साधना थी। प्राण प्यारे ब्रजचन्द श्रीकृष्णचन्द्र जी के वियोग के ताप से तपकर उनका अन्तःकरण विशुद्ध हो गया था उनकी बंशी का सुर सुनते ही उन्हें मानो बिच्छू ने डंक मार दिया हो वे अपने जीवन सर्वस्व का चिन्तन करते करते फूट-फूटकर रोने लगती थीं। कभी उन्हें अपनी बेबसी पर हँसी आ जाती थी तो कभी प्रेम दशा का स्मरण कर आनन्दित होने लगती थी और उनकी लीलाओं का अभिनय करने लग जाती थीं। कोई गो दोहन करती, कोई गोपी माखन चोरी करती, कोई नाचती-गाती कभी आत्माराम स्थिति में पहुँचकर परम शान्त हो जाती थी।

क्वचिद् रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनु शीलयन्त्यज, भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥

—श्रीमद्भागवत् ११/३/३२

यह वह अवस्था है जिसमें पहुँचकर योगी सभी चराचर जगत में अपनी आत्मा को ही व्याप्त देखता है और सभी प्राणियों को अपनी आत्मा में अनुस्यूत देखता है। तभी वह प्रेम का पुतला बनता है—योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र के गीता में योगयुक्त योगी को वास्तविक प्रेमी कहते हैं जो कि—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ —गीता ६/२९

योगी इसीलिए समदर्शी होता है जो सर्वत्र अपनी आत्मा को ही सबके अन्दर ओत-प्रोत देखता है।

परम योगी श्रीकृष्ण से कोई भी बात छिपी नहीं रह सकती। चाहे आप उसे मन में सोच लें या उसे समाज में कहें। एक बार नारद जी को भ्रम हो गया था कि कृष्ण एक हैं या अनेक हैं। इस भ्रम को ध्यान में रखकर श्रीकृष्ण की परीक्षा लेने के लिए वृन्दावन आये नारद जी। सर्वप्रथम माँ यशोदा के दरवाजे पर पहुँचे और कहा माँ भिक्षा दे दो। उस समय माँ यशोदा अपने कन्हैया को स्नान करा रही थीं। उसी समय माँ यशोदा ने उठकर भिक्षा दी और नारद जी सखी ललिता के घर पहुँचे और आवाज लगायी भिक्षा दे दो। उस समय ललिता सखी कन्हैया को कपड़े पहना रही थीं। मुनिवर को देखकर सखी दौड़ी-दौड़ी आई और मुनिवर को भिक्षा दी। नारदजी ने देखा कि अभी श्यामसुन्दर माँ यशोदा के घर में थे इस घर में भी मौजूद हैं। नारदजी यह देखकर हैरान रह गये और चुपके से विशाखा के घर पहुँचे और वहाँ देखा कि विशाखा श्याम सुन्दर को कपड़े पहना रही है। ऐसी दशा को देखकर नारदजी चुपके से एक सकरी गली में होकर जा रहे थे उधर श्याम सुन्दर घटघटवासी पहचान गए कि नारदजी परीक्षा लेने के लिए आये हैं और चुपके से जा रहे हैं। ऐसी बात को मन में सोचकर श्याम सुन्दर ने खूबसूरत स्त्री का रूप धारण कर लिया और लम्बा घूँघट मारकर उसी गली की तरफ चले जिस गली से नारदजी आ रहे थे।

गली इतनी सकरी थी कि उसमें तीन प्राणी एक साथ नहीं जा सकते थे। उसी गली में में श्याम सुन्दर स्त्री का रूप धारण करके बहुत तेजी से जा रहे थे। नारदजी स्त्री को देखकर चौंक गये कि यही मटपटी चाल से चली आ रही है। कहीं मुझमें चिस्सा न मार दे। यह सोच ही रहे थे वैसा ही हुआ। श्यामसुन्दर बड़ी तेजी से गली में होकर निकल गये और तेजी से उसी रास्ते से होकर दुबारा आने लगे। नारद जी स्त्री को देखकर दुबारा घबराने लगे कि यह फिर आ गयी फिर वही स्थिति बनी। फिर तीसरी बार उसी रास्ते से बड़ी तेजी से आये और चिस्सा मारकर चौराहे पर खड़े हो गये। इतने में नारदजी वहाँ आ गये और स्त्री को ऊपर नीचे देखने लगे। कुछ क्षण बाद नारदजी समझ गये कि यह स्त्री नहीं यह तो श्याम सुन्दर हैं। नारदजी ने श्याम सुन्दर के चरण पकड़ लिए और कहा कि भगवन् अब तो आप असली रूप में आइए। मैं नहीं जानता था कि आप ये भी लीलायें खेलते हैं। मेरे मन का भ्रम दूर हुआ तब लीलाधर श्याम सुन्दर उसी रूप में आ गये। ऐसी ही लीलायें हमारे महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज ने भी अनेकों की हैं।

● श्री राजेन्द्र प्रसाद पाठक

# आत्मा निर्मोही भवेत्

**जो** अपने सिवाय दूसरों की अर्थात् शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, धन, वैभव, राज्य, जमीन, घर, पद, अधिकार, आदि की अपने लिये आवश्यकता मानता है वही 'अनात्मा' है। तात्पर्य यह है कि जो अपना स्वरूप नहीं है, आत्मा नहीं है, उसको अपने लिए आवश्यक और सहायक समझना या उसको अपना स्वरूप मान लेना ही 'अनात्मा' होकर प्राकृत पदार्थ को अपना समझना बताया गया है। इसी बात को व्यक्त कर रहे हैं श्री भगवान् कृष्ण कि अपने आपसे अपने आपको जिसने जीत लिया, उसके लिए आप ही अपना बन्धु और जिसने अपने आपको नहीं जीता, ऐसे अनात्मा का आत्मा ही शत्रु की तरह बर्ताव करता है। यथा :

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।। गीता ६/६

परन्तु संसार में जो शरीर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि (किसी भी प्राकृत पदार्थ) को अपने लिये आवश्यक नहीं मानता और उन प्राकृत पदार्थों के साथ किञ्चिन्मात्र भी अपनेपन का सम्बन्ध नहीं जोड़ता उसका ही नाम 'जितात्मा' है। जितात्मा मनुष्य अपना तो हित करता ही है, साथ ही संसार का भी बड़ा भारी हित होता है। साधारण लौकिक दृष्टि से जिसके पास धन, वैभव, स्त्री-पुत्र आदि अनुकूल सामग्री की बहुलता हो, उसीको लोग 'सुखी' कहते हैं तथा जिसके पास इस अनुकूल सामग्री का अभाव हो उसको लोग 'दुःखी' कहते हैं। गीता में बताया गया है कि सम्पूर्ण मनुष्यों की जो रात (परमात्मा से विमुखता) है, उसमें संयमी मनुष्य जागता है, और जिसमें साधारण मनुष्य जागते हैं (भोग और संग्रह में लगे रहते हैं) तत्व को जानने वाले मुनि की दृष्टि में वह रात है। यथा :

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।। गीता ६/६६

इस प्रकार निष्कर्ष मिलता है कि जिनकी इन्द्रियाँ और मन वश में नहीं है, जो भोगों में आसक्त हैं वे सब परमात्म तत्व की तरफ से सोये हुए हैं परन्तु मननशील संयमी मनुष्य परमात्मा को अपने स्वरूप को और संसार के परिणाम को इत्यन्त (इति+अन्त) तक जानता है कि वास्तव में यह संसार और संसार अनन्तर पदार्थ यथावत् नहीं है बल्कि केवल प्रतीति मात्र ही है। अतः अन्तःकरण में नाशवान पदार्थों का आकर्षण या महत्व का होना

ही—जन्मों के भी न जानने में मूल हेतु है। इसी के कारण मनुष्य का ज्ञान विकसित नहीं होता। अर्जुन के अन्तःकरण में भी जब तक नाशवान पदार्थों या व्यक्तियों का महत्व था वह कुटुम्बियों के मरने के भय से युद्ध नहीं करना चाहता था तब तक यह स्वतः सिद्ध हो रहा था कि वह राज्य, भोग और सुख चाहते थे। इस प्रकार उनकी नाशवान पदार्थों की कामना ही सिद्ध करती है कि वे अपने पूर्वजन्मों को नहीं जानते थे। और वे नाशवान पदार्थों की कामना के कारण ही उचित ज्ञान परिसीमा से दूर थे। महर्षि पातञ्जलि ने अपने योगदर्शन में बताया है कि ममता, आसक्तिपूर्वक अपने सुख भोग और आराम के लिए धन आदि पदार्थों का संग्रह करना परिग्रह कहलाता है। परिग्रह का सर्वथा त्याग करना अर्थात् अपने सुख आराम के लिए किसी भी वस्तु का संग्रह न करना 'अपरिग्रह' कहलाता है। अपरिग्रह की दृढ़ता होने पर पूर्वजन्मों का ज्ञान हो जाता है। यथा :

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः।

(पातञ्जलि योगदर्शन २/३९)

प्रायः इस तत्व का अनुभव होता है कि संसार (क्रिया और पदार्थ) सदैव परिवर्तनशील और असत् है अतः इसमें अभाव (कमी) होना निश्चित है। अभाव रूप संसार से सम्बन्ध जोड़ने के कारण मनुष्य को अपने में भी अभाव दीखने लग जाता है। अभाव दीखने के कारण उसमें यह कामना पैदा हो जाती है कि इस-इस अभाव की पूर्ति अवश्य करनी चाहिए परन्तु कामना की पूर्ति कब और कहाँ हो सकती है? इस तत्व का भी अनुभव उसे स्वयं होने लगता है।

# धर्म निरपेक्षता क्या ?

● आजकल हमारे राज्य को धर्मनिरपेक्ष राज्य कहा जाता है। यह हमारे लिए कोई नयी कल्पना नहीं। जो सच्चा और अच्छा राज्य होता है, वह धर्म-निरपेक्ष ही होता है 'धर्महीन' नहीं। धर्म में कई बातें आती हैं। धर्म का एक अङ्ग मृत्युके बाद का जीवन है, जिसमें आत्मा, परमात्मा आदि बातें आती हैं। उनका सम्बन्ध इस राज्य से नहीं आता। इहलोक के व्यवहार और सत्य, प्रेम, न्याय आदि के सिद्धान्त धर्म का दूसरा अङ्ग है, जिसका सम्बन्ध राज्य से है इन सिद्धान्तों पर ही राज्य निर्भर होना चाहिए। इस अर्थ में हर सरकार धार्मिक होनी चाहिए। धर्म-निरपेक्ष राज्य का मतलब 'लोकतान्त्रिक शासन' है। लोगों का ऐहिक जीवन अच्छा चले, इतना ही ख्याल करने वाली सरकार 'लोकतान्त्रिक' सरकार है। धर्म के पुराने अर्थ में हम इसे धार्मिक कहते हैं। और धर्म के पारलौकिक अर्थ में उसे धार्मिक नहीं कहते। —विनोबा

# -: सन्त ज्ञानदेव-चिन्तन :-

( १ )

ईश्वर के किये क्या नहीं होगा ?
उसकी इच्छा से पत्थर नदी तैर जायगा।
चींटियां सूर्य-किरणों पर चढ़ेंगी।
अग्नि-कुण्ड में फसलें फलेंगी,
दीवारें चलने लगेंगी,
मशक मेरु की बराबरी करेंगे।
ईश्वर के इस अघटित सामर्थ्य की हम कल्पना कर सकते हैं।
गुरु कृपा का सामर्थ्य भी ऐसा ही है,
क्योंकि तुच्छ माना गया जीव भी
उसके द्वारा परब्रह्म-पद प्राप्त कर सकता है।

( २ )

चित्र का सूर्य—
प्रकाश नहीं दे सकता।
वैराग्य-शून्य संन्यास,
या अनुभव-शून्य ब्रह्मज्ञान
दोनों की एक ही गति है।
अनुभवी गुरु के मार्गदर्शन में
जिन्होंने सांगोपांग साधना की है
उस भाग्यशाली पुरुष को ही
प्रखर वैराग्ययुक्त संन्यास और
अनुभवात्मक ब्रह्मज्ञान का लाभ होता है।

( ३ )

जिसे अनुभवी गुरु द्वारा शिक्षण मिला
वह पूर्ण स्वावलंबी बना।
कारण उसके ज्ञान में,
किसी तरह की शंका या अधकचरापन
शेष नहीं रहता।
स्वतंत्र प्रज्ञा से वह जो-जो कल्पना करेगा
वह जगत् में सिद्ध होनी ही चाहिए।
उसकी प्रतिभा में
किसी भी तरह की कमी नहीं
ज्ञानदेव का कहना है
कि गुरु-कृपा से
मनुष्य इतना ऊँचा उठता है। 

( ४ )

गोवर्धन पर्वत उठाने के लिए,
सभी ग्वालों ने सामुदायिक उठवाई की
किसीने अपने हाथों का आधार दिया,
किसीने माथे का टेका दिया,
किसी ने लाठी का सहारा दिया।
किसी का हाथ टूटा,
किसी की कलाइयों में मोच आयी,
आखिर वह पर्वत खड़ा हुआ।
ग्वालों ने आनन्द के आवेश में कहा—
"धन्य हैं हम कि इस पर्वत को उठाया।
सामुदायिक प्रयत्न से क्या नहीं होगा?"
सयानों ने कहा—
"अरे यह सारी महिमा कृष्ण की है।
वह हमारे बीच होते हुए तुम लोगों को दिखाई कैसे नहीं देता?
हम सभी अभी मर जो रहे थे।
उसकी कृपा से जिन्दा रहे, यही भाग्य समझो।"

( ५ )

परम-शान्ति पाये हुए निवृत्ति-गुरु ने
ज्ञानदेव को हरिनाम का मन्त्र दिया,
और कहा
कि ईश्वर-प्राप्ति के सारे मार्गों में
नाम-स्मरण का मार्ग
अत्यन्त सरल और अचूक है।

स्थिर-बुद्धि-रूप समाधि,
कर्मयोग की साधना,
दया, शान्ति आदि दैवी-सम्पत् के गुण,
भूतमात्र में समत्व-रूप भक्ति,
यम-दमादि योग,
और अन्त में, अज्ञान का निरसन करने वाला ज्ञान-विज्ञान
सारांश, सारे साधन और सिद्धियों का समावेश
हरिनाम में हो जाता है।
हरिनाम ही नवजीवन देने वाली मधुर संजीवनी है।

समर्थ श्री रामदास की वाणी—

# परमात्मा की पहचान और उसकी प्राप्ति

## ( १ )

यदि हमें किसी गाँव या देश में रहना हो और हम वहाँ के स्वामी से न मिलें तो हम कैसे सुखी हो सकते हैं ? इसलिए जिसे जहाँ रहना हो, यदि वह वहाँ के स्वामी से भेंट कर ले तो उसके लिए सब प्रकार से अच्छा ही होता है। यदि प्रभु से भेंट न की जाय तो उसके यहाँ मान नहीं होता और अपना महत्व या प्रतिष्ठा नष्ट होने में देर नहीं लगती। इसलिए राजा से लेकर रंक तक को प्रभु से भेंट करनी चाहिए और विवेकी लोग इसका रहस्य अच्छी तरह जानते हैं। यदि बिना प्रभु से भेंट किये कोई उसके नगर में रहे तो वह बेगार में पकड़ा जायेगा और चोरी न करने पर भी चोरी में पकड़ा जायगा। इसलिए जो लोग समझदार होते हैं, वे प्रभु से अवश्य भेंट करते हैं; और जो लोग भेंट नहीं करते, उन्हें संसार में अनेक प्रकार के संकट भोगने पड़ते हैं। गाँव में वहाँ का अधिपति बड़ा होता है; उससे बड़ा देश का अधिपति और उससे भी बड़ा नृपति होता है। राष्ट्रों का प्रभु राजा होता है; बहुत से राष्ट्रों का पति महाराजा होता है और महाराजाओं का भी राजा चक्रवर्ती होता है। नरपति, गजपति, हयपति और भूपति सबमें चक्रवर्ती राजा बड़ा होता है। इन सबको बनाने वाला एक ब्रह्मा होता है, पर उस ब्रह्मा को बनाने वाला कौन है ? जो ब्रह्मा, विष्णु और हरि को भी बनाने वाला है, उस परमेश्वर को अनेक प्रकार से यत्न करके पहचानना चाहिए। जब तक उस ईश्वर की प्राप्ति न हो, तब तक यम-यातना से छुटकारा नहीं मिलता और उस ब्रह्माण्ड-नायक से भेंट न होना अच्छा नहीं होता। जिस ईश्वर ने मनुष्य को संसार में भेजा है और सारे ब्रह्माण्ड की सृष्टि की है, उसे न पहचानने वाला पतित है। इसीलिए ईश्वर को पहचानकर जन्म सार्थक करना चाहिए; और यदि उसका ज्ञान न हो सके तो सत्संग करना चाहिए, क्योंकि इससे उसका पता अवश्य लगता है। भगवान को जानने वाला ही सन्त कहलाता है और वही शाश्वत तथा अशाश्वत का निर्णय करता है।

जिसने मन में समझ लिया है कि ईश्वर अचल है, उसी को महानुभाव, सन्त तथा साधु समझना चाहिए। जो मनुष्यों में रहकर

लोगों से भिन्न अर्थात् अलौकिक बातें बतलाता हो और जिसके हृदय में ज्ञान की जागृति हुई हो, वही साधु है। परमात्मा को निर्गुण समझना ही ज्ञान है और इससे भिन्न सब कुछ अज्ञान है। पेट भरने के लिए जो अनेक विद्याएँ सीखी जाती हैं; उन्हें लोग ज्ञान कहते हैं, पर वे सार्थक नहीं हैं। जिस ज्ञान से ईश्वर पहचाना जाय, वही सार्थक है; बाकी निरर्थक और पेट भरने की विद्याएँ हैं। जन्म भर अपना पेट भरा और शरीर की रक्षा की, पर अन्त में यह सब व्यर्थ हो जाता है। पेट भरने की विद्याओं को सद्‌विद्या नहीं कहना चाहिए। जिससे उस सर्वव्यापक वस्तु की तत्काल प्राप्ति हो वही ज्ञान है। जिसके पास इस प्रकार का ज्ञान हो, उसी को सज्जन समझना चाहिए और उसीसे अपना समाधान करने के लिए प्रश्न करना चाहिए। यदि अज्ञानी के साथ अज्ञानी की भेंट हो तो ज्ञान कैसे मिल सकता है? दरिद्र के पास जाने से धन कैसे मिल सकता है? यदि रोगी के पास रोगी जाय तो वह आरोग्य कैसे हो सकता है? और निर्बल के पास निर्बल जाय तो उसे सहायता कैसे मिल सकती है?

यदि पिशाच के पास पिशाच जाय तो क्या काम निकल सकता है; और उन्मत्त से उन्मत्त मिले तो वह उसे क्या समझ सकता है? भिखारी से भीख कैसे मिल सकती है और दीक्षाहीन से दीक्षा कैसे मिल सकती है? कृष्णपक्ष में चन्द्रमा का प्रकाश ढूंढने से कैसे मिल सकता है? यदि मूर्ख के पास मूर्ख जाय तो वह समझदार कैसे हो सकता? और बद्ध पुरुष बद्ध पुरुष पर जाय तो वह सिद्ध कैसे हो सकता है? यदि देही के पास देही जाय तो विदेह कैसे हो सकता है? इसलिए जो स्वयं ज्ञाता न हो, वह ज्ञानमार्ग नहीं बतला सकता। इसीलिए ज्ञाता को ढूंढना चाहिए, उसका अनुग्रह प्राप्त करना चाहिए और उसके सारासार की बातें जाननी चाहिए; तभी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

× × ×

अब उस उपदेश के लक्षण सुनिए जिससे सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है। अनेक प्रकार के दूसरे मतों की खोज करना व्यर्थ है। जिस उपदेश में ब्रह्मज्ञान न हो, उसमें कोई विशेषता नहीं है। ऐसा ज्ञान उस भूसी के समान है जिसमें धान्य न हो और जो खाई न जा सके। भूसी में से दाना और मठे में से मक्खन नहीं निकलता; और चावलों की धोवन में दूध का स्वाद नहीं मिलता। वृक्षों की छाल खाने व चूसने से कोई फल नहीं; और गिरी छोड़कर ऊपरी छिलका खाना मूर्खता है। इसी प्रकार जिसमें ब्रह्मज्ञान न हो, वह उपदेश निस्सार है; और सार को छोड़कर असार का सेवन कौन समझदार करेगा?

अब निर्गुण ब्रह्म का निरूपण किया जाता है। श्रोता लोग अपना मन स्थिर कर लें। सारी सृष्टि की रचना पंचभूतों से ही हुई है, पर यह सृष्टि सदा बनी नहीं रह सकती। इसके आदि में भी और अन्त में भी वही निर्गुण ब्रह्म रहता है और वही शाश्वत है। बाकी सब पंचभूतों को नश्वर समझना चाहिए। इन भूतों को परमात्मा कैसे कह सकते हैं। यदि मनुष्य को भूत कहा जाय

तो वह भी नाशवान होता है। फिर वह तो जगज्जनक परमात्मा है, जिसकी महिमा ब्रह्मा आदि भी नहीं जानते। उसे भला भूत की उपमा कैसे दी जा सकती है? यदि कहा जाय कि जगदीश भी भूतों के समान है तो दोष होता है, और यह बात सभी महापुरुष जानते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश सभी में अन्दर और बाहर वह परमात्मा व्याप्त है। ये पंचभूत तो नष्ट हो जाते हैं, पर आत्मा अविनश्वर है। जो रूप और नाम हैं, ये सब कोरे भ्रम हैं, और नाम तथा रूप से परे जो ब्रह्म है, उसका रहस्य अनुभव से जानना चाहिए।

पाँचों भूतों और तीनों गुणों से मिलकर अष्टधा प्रकृति बनी है और इसी को दृश्य कहते हैं। वेदों और श्रुतियों में कहा है कि ये दृश्य नष्ट हो जाने वाले हैं और ज्ञानी यह बात जानते हैं कि निर्गुण ब्रह्म ही शाश्वत है। जो शस्त्र से कट नहीं सकता, आग में जल नहीं सकता, पानी में गल नहीं सकता, वायु में उड़ नहीं सकता, गिर-पड़ नहीं सकता और बन बिगड़ नहीं सकता, वह परब्रह्म ही है। उसका कोई वर्ण नहीं है,वह सबसे परे है और फिर भी सदा बना रहता है। चाहे वह दिखाई न पड़े, पर है अवश्य और हर जगह सूक्ष्म रूप से व्याप्त है। मनुष्य की दृष्टि की यह आदत-सी पड़ गई है कि वह उसीका अस्तित्व मानती है जो उसे दिखाई पड़ता है, और जो वस्तु गुप्त होती है उसे वह गोप्य कहता है। पर जो कुछ प्रकट है, उसे असार समझना चाहिए; और जो गुप्त है उसे सार समझना चाहिए। यह बात गुरु से ही अच्छी तरह समझी जा सकती है।

जो समझ में न आवे, उसे विवेक बल से समझना चाहिए; जो दिखाई न पड़े, उसे विवेक बल से देखना चाहिए; और जो जान न पड़े, उसे विवेक बल से जानना चाहिए। जो गुप्त हो, उसे प्रकट करना चाहिए; जो असाध्य हो, उसका साधन करना चाहिए, और जो कठिन हो, उसका अभ्यास करना चाहिए। वेद, ब्रह्मा और शेषनाग भी जिसका वर्णन करते-करते थक गये हैं, उसी परब्रह्म को प्राप्त करना चाहिए। यदि कोई पूछे कि उसकी साधना कैसे की जाय, तो इसका उत्तर यह है कि अध्यात्म-सम्बन्धी बातें सुन-कर उस परब्रह्म की प्राप्ति करनी चाहिए। वह पृथ्वी, जल, तेज या वायु नहीं है, वह रंग रूप आदि से व्यक्त नहीं होता, वह अव्यक्त है। उसी को ईश्वर समझना चाहिए। और यों तो जितने गाँव हैं, लोगों ने उतने ही देवता बना रखे हैं। जब इस प्रकार परमात्मा के सम्बन्ध में निश्चय हो जाय और उसके निर्गुण होने का विश्वास हो जाय, तब स्वयं अपने सम्बन्ध में खोज करनी चाहिए। जो आत्मा यह कहती है कि यह शरीर मेरा है, उसे शरीर से बिल्कुल अलग समझना चाहिए और जो यह समझती है कि मन मेरा है, वह वास्तव में मन नहीं है। यदि शरीर का विचार किया जाय तो वह केवल पंचतत्वों से बना है और उन तत्वों को अलग कर देने से केवल आत्मा बाकी रह जाती है।

जिसे "मैं" कहते हैं, उसका यहाँ कहीं पता नहीं रहता और सब तत्व अपनी अपनी जगह जाकर मिल जाते हैं। यह शरीर पंच-तत्वों की बँधी हुई गठरी है और इसका नाश हो जाता है। इसमें केवल एक आत्मा ही है

जो सदा बनी रहती है। इसके सिवा तीसरा "मैं" वहाँ कोई है ही नहीं। जब "मैं" का ही ठिकाना नहीं है, तब जन्म और मृत्यु किसकी और कैसी? और आत्मा पाप-पुण्य तथा जन्म-मृत्यु से रहित है। जब उस निर्गुण में पाप-पुण्य और यम-यातना नहीं है, तब "मैं" भी नहीं है; क्योंकि "मैं" भी तो वही निर्गुण आत्मा है। यह जीव देहबुद्धि के कारण बँधा हुआ है। यदि विवेक की सहायता से उसका बन्धन खोल दिया जाय तो वह देह से अतीत होकर मोक्ष पद पा जाता है। बस इससे जन्म सार्थक हो जाता है। निर्गुण आत्मा और "मैं" दोनों मिल जाते हैं। पर इस विवेक पर सबसे पहले ध्यान देना चाहिए। जैसे जागने पर स्वप्न नहीं रह जाता, वैसे ही विवेकपूर्ण देखने पर वह दृश्य जगत नहीं रह जाता और अपने स्वरूप का अनुसन्धान करने से ही प्राणी मात्र का उद्धार हो जाता है।

विवेक पूर्वक स्वयं अपने आपको निवेदन करके उसके स्वरूप में मिल जाना चाहिए; और इसी को आत्म निवेदन कहते हैं। पहले अध्यात्म सम्बन्धी बातें सुननी चाहिए और तब सद्गुरु की सेवा करनी चाहिए। फिर सद्गुरु की कृपा से आत्म निवेदन हो जाता है। आत्म निवेदन के उपरान्त यह बोध होता है कि वह वस्तु (ब्रह्म) निर्मल, अलिप्त और शाश्वत है; और "मैं" स्वयं भी वही वस्तु हूँ। इस प्रकार के ब्रह्मज्ञान से जीव स्वयं ब्रह्म हो जाता है और वह प्रसन्नता से शरीर को प्रारब्ध पर छोड़ देता है। इसी को आत्मज्ञान कहते हैं; इसी से समाधान या शान्ति होती है; और इसी से यह जीव परब्रह्म से अभिन्न तथा भक्त होता है—बिल्कुल उसी में मिल जाता है। अब जो कुछ होना है, वह हुआ करे; जो कुछ जाना हो, वह चला जाय; किसी की परवाह नहीं होती। मन से जन्म और मृत्यु की आशंका नष्ट हो जाती है। इस प्रकार संसार के सब झगड़े मिट हो जाते हैं और ईश्वर तथा भक्त में एकता हो जाती है। पर ईश्वर को मनुष्य सत्सङ्गति के द्वारा ही पहचान सकता है।

# भय बुद्धि की हार है

भय हमारी बुद्धि की हार है, हमारे आत्मविश्वास की हार है। मनुष्य सृष्टि का शृंगार है, किन्तु मनुष्य तो सृष्टि की निकृष्टतम वस्तु है। भय एक मिथ्या, काल्पनिक भ्रम है। आत्मविश्वास में अनन्त शक्ति है। वह आपको ऊँचे ही ऊँचे शिखर पर ले जा सकती है। आत्मविश्वास को जगाना शुरू करें और कुछ ही आप में परिवर्तन आ जायगा। आत्म-विश्वास आस्तिकता का प्रथम चरण है, आत्मविश्वास का अभाव नास्तिकता का प्रारम्भ है, "हाँ, हाँ मैं क्या नहीं कर सकता? मैं अवश्य कर सकता हूँ और सफल हो सकता हूँ। मैंने बड़े-बड़े काम किये हैं, आगे भी कर दूँगा। प्रभु ने मेरा हाथ पकड़ रखा है, प्रभु कृपा मेरे साथ है।" भय की सीमा नहीं होती है, कहाँ तक भय मानें।

● महात्मा नारायण स्वामी

# योग की शिक्षा क्यों ?

[योग की शिक्षा और साधना मानव के लिए क्यों आवश्यक है इस पर पढ़िए महात्मा नारायण स्वामी जी के अपने विचार। —सम्पादक]

इस देश में अनेक विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से योग की परिभाषायें की हैं, परन्तु योगियों के मुकुटमणि, योग शिरोमणि पतंजलि ने योग की परिभाषा इस प्रकार की है :— योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। अर्थात् योग चित्त की वृत्तियों के रोक देने का नाम है। चित्त वृत्तियां क्या हैं ? उनके रोकने का भाव क्या है ? इन प्रश्नों के समझे बिना परिभाषा का भाव समझा नहीं जा सकता। इन प्रश्नों को समझने से पहले यह समझ लेना उपयोगी होगा कि चित्त की इन वृत्तियों को रोकने की जरूरत क्यों होती है ?

## जीवात्मा और उसका कर्तव्य

योगदर्शन, ईश्वर जीव और प्रकृति तीनों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है। इनमें से जीव है जिसके कर्तव्य में सहायता देने के लिए इस दर्शन की रचना हुई है। वेद में ईश्वर को "वाचिव्याहृतायाम्" कहा गया है। अर्थात् ईश्वर वाच्य के वाचक व्याहृति 'भूर्भुवः स्वः' है भू सत्तायाम् धातु से 'भूः' सत् के अर्थ में और भुवः का अर्थ अवचिन्तने धातु से चित्त है और स्वः आनन्द को कहते हैं। इस प्रकार 'भूर्भुवः स्वः' का अर्थ सच्चिदानन्द है। 'भूर्भुवः स्वः अथवा सच्चिदानन्द शब्द पर विचार करने से जीव के कर्तव्य का उद्देश्य निश्चित हो जाता है। सत् प्रकृति को कहते हैं, सत्+चित् जीव का नाम है, सच्चिदानन्द ईश्वर को कहते हैं। सच्चित् जीव की एक ओर प्रकृति का गुण सत् और दूसरी ओर ब्रह्म का स्वरूप आनन्द है। प्रश्न यह है कि जीव को अपने कर्तव्य का उद्देश्य किस को प्राप्त करना, बनाना चाहिये ? सत् जो प्रकृति का गुण है वह जीव को पहले ही से प्राप्त है इसलिए प्राप्त की प्राप्ति का यत्न व्यर्थ है परन्तु ब्रह्म का स्वरूप "आनन्द" जीव के कर्तव्य का अन्तिम उद्देश्य आनन्द को प्राप्त करना ठहरता है। उस (जीव) के पूरे उद्देश्य को इस प्रकार कह सकते हैं।

"प्राप्त संसार (प्रकृति रूप जगत्) को इस प्रकार काम में लाना चाहिये कि जिससे वह अन्त में आनन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति का साधन बन जावे"। आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान और प्रयत्न हैं। जीव का यह ज्ञान और प्रयत्न ( कर्म ) रूप, पुरुषार्थ जीव के बाहर ( जगत ) में भी काम करता है और जीव के अन्दर भी। जब वह बाहर काम करता है तब उसका नाम बहिर्मुखी वृत्ति होता है और जब अन्दर काम करता है तब उसका नाम अन्तर्मुखी वृत्ति होता है। जीव चूंकि प्रयत्नशील है इसलिए दोनों वृत्तियों में से एक न एक-सदैव जारी रहती है। यदि बहिर्मुखी बन्द होती है स्वयमेव अन्तर्मुखी वृत्ति काम करने लगती है और जब अन्तर्मुखी वृत्ति बन्द होती है तब बहिर्मुखी वृत्ति स्वतः अपना काम जारी कर देती है। बहिर्मुखी वृत्ति जब जारी रहती है तब जीव अन्तःकरणों के माध्यम से जगत् में इन्द्रियों द्वारा काम किया करता है परन्तु अन्तर्मुखी

वृत्ति होने पर वह आत्मानुभव और परमात्मदर्शन किया करता है।

## योग दर्शन की शिक्षा

महामुनि पतञ्जलि ने अपने कल्याणकारी दर्शन में उपर्युक्त उद्देश्य को लक्ष्य में रखते हुए, इसीलिए यह शिक्षा दी है कि जगत् को इस प्रकार काम में लाओ कि जिससे यह भी अधिक से अधिक काम की वस्तु सिद्ध हो और अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति का साधन भी बन सके। इसके लिए उन्होंने दो कर्तव्य बतलाये हैं।

पहला कर्तव्य—चित्त की वृत्तियों को एकाग्रित करना। चित्त के इस प्रकार एकाग्र हो जाने से मनुष्य को, संसार अधिक से अधिक सुखदायक बन सकता है।

## सांसारिक सुख का कारण

सांसारिक सुख की तह में घुसने से पता लगता है कि दुनियामें सुख किसे कहते हैं। वह न अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट भोजनों में है न अच्छी-अच्छी कीमती पोशाकों के पहनने में। और न संसार के अन्य विषयों में। सुख असल में चित्त की एकाग्रता में है। भोजनादि विषय के साथ जब चित्त लग जाता है, वह विषय सुखदाई प्रतीत होने लगता है और जिस विषय के साथ चित्त नहीं लगता वह रूखा-सूखा निस्सार सा प्रतीत होने लगता है। एक मनुष्य अपने अनुकूल अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन करते हुए उसका आनन्द ले रहा है, परन्तु अचानक पुत्र की मृत्यु की खबर सुनने और चित्त के भोजन से हटकर पुत्र की स्मृति की ओर चले जाने से अब वह भोजन उसे सुखदाई नहीं रहा। अब उसका एक-एक टुकड़ा गले में अटकता है। कारण स्पष्ट है; अब चित्त भोजन के साथ नहीं रहा। अस्तु, योग दर्शन ने चित्त की एकाग्रता की उपयोगिता बतलाते हुए शिक्षा यह दी है कि इस चित्त की एकाग्रता को इस प्रकार काम में लाना चाहिए कि जिससे उसका मुँह चित्त के निरोध की ओर फेरा जा सके।

## चित्त का निरोध क्यों होना चाहिए ?

जब तक चित्त एकाग्रित रहता है, तब तक चित्त की वृत्तियाँ अपने काम में लगी हुई हैं और तत्परता के साथ अपना काम कर रही हैं। यहाँ तक आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति ही काम करती है। चित्त की एकाग्रता बहिर्मुखी वृत्ति की सीमा के अन्तर्गत ही है। परन्तु उद्देश्य अन्तर्मुखी वृत्ति का जागृत करना है। उसके जागृत करने या काम में लाने का साक्षात् साधन अज्ञात है। इसलिए असाक्षात् साधन से काम लिया जाया करता है और वह असाक्षात साधन यह है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध करके बहिर्मुखी वृत्ति का काम बन्द कर दिया जावे। इसीलिए योगदर्शन में चित्त की वृत्तियों के निरोध का विधान किया गया है। बहिर्मुखी वृत्ति के बन्द होने पर अन्तर्मुखी वृत्ति स्वयमेव जागृत होकर अपना काम करने लगती है।

## चित्त और उसकी वृत्तियाँ

चित्त को यदि एक सरोवर मानें तो उस सरोवर में उठी हुई लहरों को चित्त की वृत्तियाँ मानना पड़ेगा। इस चित्त रूपी सरोवर का एक किनारा बुद्धि से मिला हुआ आत्मा रूपी गंगा की ओर है और उसका दूसरा विरोधी किनारा इन्द्रियों से मिला हुआ जगत् की ओर है। चित्त रूपी सरोवर में उठने वाली वृत्ति रूपी लहरें पांच प्रकार की हैं—(१) प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और

● डॉ० वीरेन्द्र बहादुर सिंह

# समाज रचना का वैदिक दृष्टिकोण

सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनुष्य एक सामाजिक प्राणी रहा है। वैदिक मान्यता के अनुसार वनस्पति तथा पशु-पक्षी आदि की सृष्टि के बाद मानव सृष्टि पृथ्वीके सबसे ऊँचे त्रिविष्टप, जिसे आजकल तिब्बत कहते हैं में हुई थी। प्रारम्भ में अमैथुनी सृष्टि में अनेक युवा स्त्री पुरुषों के जोड़े उत्पन्न हुए थे और उन्हीं से बाद में मैथुनिक सृष्टि प्रारम्भ हुई तथा मानव संसार के विभिन्न देशों में फैल गये। इससे ज्ञात होता है कि व्यक्ति और समाज परस्पर अंग अंगी भाव से एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। व्यक्ति अंग है और समाज अंगी। यह सत्य है कि समाज का अस्तित्व मानव पर निर्भर है। व्यक्ति का आचार, दर्शन, निष्ठा और संस्कृति समाज में प्रतिबिम्बित होते हैं। व्यष्टि और समष्टि का एक दूसरे से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। समष्टि ही समाज है। व्यक्तिके अभावमें समाज नहीं बन सकता और समाज के बिना व्यक्ति का अस्तित्व भी सारपूर्ण नहीं रहता है। व्यक्ति इकाई है समाज का उत्थान-पतन, उन्नति-अवनति और उत्कर्ष-अपकर्ष की सामर्थ्य की सीमायें हैं, समाज व्यक्ति की आवश्यकताओं को पूरा करता है, समन्वय स्थापित करता है और दिशा निर्देश करता है। इसलिए आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आर्यसमाज के नियमों में लिखा है कि "प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।" तथा "प्रत्येक को सामाजिक सर्व-हितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।"

इसके विपरीत पाश्चात्य विचारक श्री हाब्स की मान्यता है कि प्राकृतिक दृष्टि से मानव जीवन एकाकी 'निष्ठुर, क्रूर और निरंकुश है।' मानव की इस उच्छृंखल प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने के लिए राज्य संस्था का उदय हुआ। किन्तु अब यह विषय सारहीन हो गया है और प्रत्येक व्यक्ति इस विचार से सहमत है कि व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्ति अहंमन्यता और स्वार्थ भावना न होकर संगठन और दूसरे के प्रति सद्भावना की है। इस

---

आगम (आप्तोपदेश) (विपर्यय अर्थात् मिथ्या ज्ञान (३) विकल्प अर्थात् वस्तु शून्य कल्पित नाम (४) निद्रा, सोना (५) स्मृति अर्थात पूर्व श्रुत और दृष्ट पदार्थ का स्मरण। चित्त में जितनी अच्छी या बुरी वृत्तियाँ हो सकती हैं, वे सभी इन्हीं पांच प्रकारों के अन्तर्गत हुआ करती हैं। इन वृत्तियों को समष्टि रूप से अच्छा या बुरा नहीं कह सकते। इनमें दोनों प्रकार की बातें सम्मिलित हैं। परन्तु ये सब इन्द्रियों के माध्यम से जगत् की ओर ले जाने वाली हैं। ●

युग के वेदों के भाष्यकारों की मान्यता है कि सृष्टि की आदि में मनुष्य अकेले नहीं पैदा हुआ वरन् एक ही समय अनेक युवा युगल उत्पन्न हुए और इस प्रकार समाज के साथ रहना और सामाजिक उन्नति करना मानव का प्रारम्भिक स्वभाव है।

वैदिक विचार धारा में धर्म को व्यापक अर्थों में लिया गया है। धर्म का अंग्रेजी पर्याय रिलीजन नहीं है। रिलीजन का सम्बन्ध विश्वास, मत, आस्था उपासना पद्धति, कर्म काण्ड आदि से है। किन्तु धर्म मानव का नियामक है। "धार्यतेइति धर्मः" के अनुसार धर्म वह है जिसे धारण किया जाय अथवा जिससे व्यक्ति और समाज की धारणा हो। वैशेषिक दर्शन के ऋषि कणाद् के अनुसार धर्म की परिभाषा है "यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।" अर्थात् धर्म से व्यक्ति और समाज का अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध होता है अथवा धर्म से इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति दोनों ही होती हैं। वैदिक समाज व्यवस्थामें धर्मके दो स्वरूप है। एक वर्ण और दूसरा आश्रम जिसे हम वर्णाश्रम धर्म कहते हैं। आश्रम व्यक्ति के समूचे जीवन को चार भागों में विभाजित करता है जिससे वह पुरुषार्थ चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति कर सकें। ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञानार्जन का अधिकार था और वह अपनी रुचि और सामर्थ्य के अनुसार ज्ञान प्राप्त करता है। ब्रह्मचर्य आश्रम में माता-पिता के वर्ण का कोई प्रभाव नहीं होता। वैदिक युग में राजा और रंक एक ही गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करते थे। इसके अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। अध्ययन समाप्ति पर अर्थ और काम की धर्म के आधार पर सिद्धि के लिए व्यक्ति गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करता था और इसी आश्रम में समाज गुण कर्मानुसार कार्यों का विभाजन करता है जो जिस कार्य के लिए योग्यतम होते है उन्हें उस प्रकार का कार्य दिया जाता था। इस प्रकार सभी कार्यों के लिए समर्थ व्यक्ति मिल जाते थे। और सभी व्यक्तियों को उनकी योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार कार्य प्राप्त होता रहा। गृहस्थों की इस सामाजिक व्यवस्था के आधार पर ही वर्णों की सृष्टि हुई। वानप्रस्थ आश्रम, संन्यास की तैयारी है। इस आश्रम में व्यक्ति वन में रह कर त्याग का अभ्यास करता है। इस प्रकार गृहस्थ अभ्युदय का तथा सन्यास निःश्रेयस का आधार है। ब्रह्मचर्य गृहस्थ की तैयारी तथा वानप्रस्थ संन्यास की तैयारी है किन्तु इन चारों आश्रमों में व्यक्ति अपनी शारीरिक और आत्मिक उन्नति करते हुए भी सामाजिक उन्नति से परांगमुख नहीं होता है।

वैदिक वर्ण व्यवस्था में शिक्षा व धार्मिक अनुष्ठानों का कार्य ब्राह्मणों को दिया गया रक्षा एवं देश सुरक्षा का कार्य क्षत्रियों को, अर्थ व्यवस्था अर्थात कृषि और वाणिज्य का समस्त कार्य वैश्यों को सौंपा गया और समस्त शिल्प और शारीरिक श्रम सम्बन्धी कार्य शूद्रों को दिये गये।

वैदिक समाज व्यवस्था का आधार मानव की त्याग वृत्ति रही है। त्यागी जीवन का अभ्यास व्यक्ति ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में जीवन के तीन चौथाई भाग में करता है। गृहस्थ आश्रम में भी व्यक्ति को इस त्याग भावना का अभ्यास बना रहे इस हेतु पंच महायज्ञों का विधान किया गया था।

★

# रमता जोगी बहता पानी

रमता जोगी, बहता पानी, दोनों की उद्घोषित बानी।
चलने से जो रुक जाता है, कीचड़ बन जाता वह पानी ॥ —दिव्य

---

## निःस्वार्थ आत्म-त्याग —यायावर

एक बार तालाब और नदी के बीच झगड़ा उठ खड़ा हुआ। तालाब ने नदी से कहा "नदी तुम बड़ी दुःखी हो, अपना पानी और सारा माल-मता समुद्र को क्यों दे देती हो? मुझे देखो मैं तुम्हारे दिये हुए पानी और माल-मता को उसे नहीं देता। समुद्र बड़ा कृतघ्नी है? उसे किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है! यदि तुम अपनी एकत्रित सम्पत्ति को समुद्र में डालती गयीं तो भी वह उतना ही खारा रहेगा जितना इस समय है; उसकी कड़वाहट दूर नहीं होने की! बहिन, भैंस के सामने बीन बजाना उचित नहीं है! मेरा कहा मानो और अपने माल को अपने पास ही रखो।' सांसारिक लोगों की यही बुद्धिमत्ता है कि अपनी वस्तु अपने पास ही रहे। अन्तिम फल स्वयं के लिए सुरक्षित रखो। नदी वैदिक धर्म मानने वाली थी, उसने तालाब की युक्तिपूर्ण बातों को सुनकर उत्तर दिया—"नहीं मेरे प्यारे भाई, स्वकर्म और फल से मेरा कोई प्रयोजन नहीं। हार-जीत का भी मुझ से कोई सम्बन्ध नहीं! काम मुझे प्यारा है। अपना कर्त्तव्य समझ कर करूँगी। मेरी जीवात्मा स्वयं काम की मूर्ति है! इसलिए मैं काम बन्द कभी नहीं करूँगी।" नदी ने अपना धर्म नहीं छोड़ा, लाखों गैलन पानी समुद्र में डालती चली गई। कंजूस तालाब तीन-चार महीने में सूख गया, उसमें कीचड़ ही कीचड़ हो गया और उसके गन्दे पानी से दुर्गन्ध आने लगी, किन्तु नदी ज्यों की त्यों साफ और कान्तिमय बनी रही! उसका स्रोत नहीं सूखा। धीरे-धीरे पानी समुद्र से उड़-उड़ कर चश्मों में जाने लगा। मानसून और तिजारती हवाओं ने भी चुपके-चुपके अदृश्य रूप से, समुद्र का पानी ले जाकर नदी के उद्गम स्थान को सदा के लिए जल से सराबोर कर दिया।

शास्त्र कहता है कि आप लोग तालाब की संकुचित नीति का अनुसरण न करें। मेरा क्या होगा, मेरे काम का फल मुझे क्या मिलेगा? इस बात की चिन्ता छोटे तालाब ही को रहती है। आप काम कीजिये, निष्काम भाव से काम करना अपना जीवनोद्देश्य बनाइये। वेदान्त की इस शिक्षा पर चलने से आपको दुखदाई विचार, वासनाओं से छुट्टी मिल जायेगी। इस बात की कुछ परवाह ही न कीजिए कि लोग हमारे काम से प्रसन्न होंगे या नहीं आलोचना करेंगे। तुम्हें तो केवल बेचैन करने वाली वासनाओं से पिण्ड छुड़ाना है, काम से नहीं। सब प्रकार के कष्टप्रद मनोविकार और प्रलोभनों से बचने के लिए काम ही

सबसे बढ़िया और गुणकारी औषधि है। सच्चा आनन्द उसी समय मिलेगा जब आप अपने काम में लगकर इस सूक्ष्म शरीर को भूल जाइयेगा। पवित्र, निर्दोष बनने और परमात्मा तक पहुँचने की यही कुन्जी है। इस प्रकार की प्रसन्नता उच्चकोटि की होगी और काम के बदले पुरस्कार रूपमें आपको मिल भी अवश्य मिलेगा। हृदय को स्वार्थपूर्ण कामों में लगाकर इस स्वर्गीय अनुपम आनन्द को नष्ट न करो। कुत्सित इच्छाओं और द्रव्य के प्रलोभनों से आपको बढ़ती होने की अपेक्षा घटती ही होती जायेगी और आपके परिश्रम को सिवा हानि के लाभ नहीं पहुँचेगा। काम समाप्त होने के पश्चात् जो आनन्द मिलता है, वैसा सुन्दर और अनुपम आनन्द न तो और किसी प्रतिफल के मिलने से और न अपनी प्रशंसा सुनने से ही मिल सकता है। अतः काम को त्याग और निष्काम दृष्टि से करो, व्यर्थ उसके तुच्छ फल की ओर देखकर न चलो। अपनी जिम्मेवारी की परवाह करो। प्रतिफल पाने की इच्छा छोड़ दो।

× × ×

लोग कहते हैं, "पहले योग्य बनो, फिर इच्छा करो।" वेदान्त कहता है "पहले योग्य बनो, इच्छा करने की कोई आवश्यकता नहीं।" जो पत्थर दीवार में लगाये जाने योग्य है, वह रास्ते में पड़ा हुआ कभी नहीं मिल सकता। यदि तुम परमात्मा के अटल नियम द्वारा अपने में योग्यता उत्पन्न करोगे तो प्रत्येक वस्तु आप से आप तुम्हारी ओर चली आवेगी। जलता हुआ लैम्प पतिंगों को बुलाने नहीं जाता, पतिंगे स्वयं लैम्प के चारों ओर इकट्ठे होते हैं।

× × ×

चन्द्रमा के उदय होते ही लोग चाँदनी का आनन्द आप से आप लेने लगते हैं, चन्द्रमा को बुलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। काम पर डटे रहो, जब तक कि आपको शरीर की अनित्यता और आत्मा की महानता का ज्ञान न हो जाय।

× × ×

परिश्रम की सूली पर शरीर को लटका दोगे तो सफलता आप से आप पीछे दौड़ी चली आवेगी और प्रशंसा करने वालों की कमी न रहेगी। ईसा मसीह जब तक जीवित था तब तक उसका सत्कार नहीं हुआ। जब सूली पर लटका दिया गया तो उसकी पूजा होने लगी। पृथ्वी के भीतर गड़ी हुई सचाई एक न एक दिन अवश्य निकलती है। बीज जब तक सड़ता नहीं और न उसके रूप में परिवर्तन हो तब तक न तो उग ही सकता है और न उसमें दाने ही उग सकते हैं। अतः सफलता का दूसरा साधन 'आत्म-त्याग' है। त्याग का दूसरा अर्थ कहीं और कुछ न समझ बैठना। त्याग का अर्थ निष्क्रियता भी नहीं है।

× × ×

प्रत्येक पुरुष सफेद (गोरा) और कान्तिमय होना चाहता है। प्रत्येक पुरुष यशस्वी होना चाहता है। सफेद पदार्थ की तरफ देखो। वह सफेद क्यों है, उसमें सफेदी कहाँ से आई? विज्ञान बतावेगा कि सफेदी का और कोई दूसरा कारण नहीं है। केवल त्याग है। सूर्य के सात रंग सब पदार्थों पर पड़ते हैं, कुछ पदार्थ रंग सोख लेते हैं, केवल एक रंग बाहर

जाता है। ऐसे पदार्थों की पहचान उसी रंग से होती है। तुम गुलाब के। गुलाबी रंग कह सकते हो किन्तु वह रंग गुलाब का नहीं है।

कैसे अचम्भे की बात है कि जो रंग उसने सोख लिया है उसका हिसाब ही कुछ नहीं लगाया जाता। काले पदार्थ सूर्य से रंग खींचकर सोख लेते हैं। बाहर कोई रंग नहीं फेंकते। उनमें त्याग की मात्रा नहीं है। यही कारण है कि वे काले दीख पड़ते हैं। सफेद पदार्थ सब रंग त्याग देते हैं, कोई रंग नहीं सोखते। वे कहते हैं, हमारी कोई वस्तु नहीं है, हम किसी पर स्वार्थपूर्ण अधिकार नहीं करना चाहते। हममें स्वामित्व का भाव नहीं है। इसलिए हम सफेद और कान्तिमय बने रहते हैं।

इसी प्रकार यदि आप उन्नति करना चाहते हैं, यदि आपकी इच्छा है कि हमारी कीर्ति फैले तो आपको स्वामित्व का भाव हृदय से निकाल कर फेंक देना पड़ेगा। ऐसा करने की आवश्यकता है। दान दीजिये, स्वतन्त्रतापूर्वक काम कीजिये, किन्तु अपना हाथ किसी के सामने गिड़गिड़ाकर न फैलाइये। प्रत्येक वस्तु को अपनी बनाने की आदत छोड़िये। हवा सबकी समान सम्पत्ति है। जब जो हवा आपके फेफड़ों में है उसे आप अपनी क्यों बनाते हैं। जब आपका ध्यान फेफड़े वाली हवा से हट जाता है तो आप कहने लगते हैं—अहा यह सारा वायुमण्डल हमारा है, हमारे सामने हवा का ढेर का ढेर और लगा हुआ है, इसी को साँस लेने के काम में लाना चाहिए।

इसलिए घमण्ड में चूर होकर स्वप्न में भी न ख्याल करो कि यह वस्तु हमारी है। प्रत्येक वस्तु उस ईश्वर की है। जगदात्मा की है। सर आइजक न्यूटन का उदाहरण लीजिये। क्या बात है कि जनता उसको इतना बुद्धिमान और यशस्वी समझती है। जिस समय वह मृत्युशय्या पर लेटा हुआ था उस समय उसके भावों का पता चला। लोगों ने उसकी प्रशंसा की और कहा कि आप दुनिया में सबसे बड़े हैं। उसने उत्तर दिया, नहीं, मेरी बुद्धि तो एक बालक की तरह ज्ञान के विस्तीर्ण समुद्र के किनारे कंकड़ के रोड़े बीन रही थी। न्यूटन अभी तक रोड़े गिनता हुआ बिछौने पर लेटा हुआ था। हम देखते हैं कि वही मनुष्य तन्मय होकर सारी शक्तियों के साथ काम कर सकता है, जिसमें घमण्ड की मात्रा न हो और जो अपनी बड़ाई के लिए नहीं मरता हो। वेदान्त का यही सार है।

तुम्हारे मन में बहुत सी इच्छायें भरी हैं! मैं तुम्हें बतलाता हूँ कि उनकी पूर्ति किस प्रकार हो सकती है। आपने कमरे के किसी रोशनदान के पल्ले (छोटी खिड़की) को क्या देखा है? यदि देखा है तो बतलाइये उसकी माया ऊपर-ऊपर किस-किस प्रकार उठाई जा सकती है। पल्ले को डोरी के द्वारा नीचे खींच लीजिये माया ऊपर आप से आप उठ जायगी। उसी प्रकार जब इच्छाओं से आप मुख मोड़ लेंगे तभी उनकी पूर्ति स्वयं हो जायगी। धनुष को आप चाहे जितना फैलाइये बाण अपना स्थान नहीं छोड़ेगा। जब आप बाण को छोड़ देंगे तभी वह शत्रु के हृदय को बींधेगा। उसी प्रकार जब आप इच्छाओं से हाथ खींच लेंगे तभी वे दूसरों के हृदय में टक्कर मारेंगी और तभी उनकी पूर्ति होगी। वेदान्त पुकार-पुकार कर कहता है कि आप अपना पराया छोड़कर परमात्मा में रंग जाइये, सफलता आपको आप से आप मिल जायगी।

× × ×

मार्ग में दो सन्यासी साथ-साथ यात्रा कर रहे थे। उनमें से एक तो सदैव अपने पास द्रव्य रखता था और दूसरा त्यागी था। उन्होंने वाद-विवाद करना प्रारम्भ किया कि मनुष्य को द्रव्य रखना चाहिए या नहीं, मार्ग में वे एक नदी के किनारे पहुँचे। सायंकाल हो गया। त्यागी मनुष्य के पास एक टका भी न था, किन्तु दूसरे के पास बहुत से रुपये थे। त्यागी ने कहा, "हम शरीर की कुछ भी परवाह नहीं करते, यदि हमारे पास पैसे नहीं तो क्या, हम ईश्वर का गुणानुवाद करके इसी किनारे पर रात बिता सकते हैं।" पैसे वाले संन्यासी ने उत्तर दिया, "भाई यहाँ न तो कोई गाँव है, न झोंपड़ी है, न कोई मनुष्य है, सांप डस लेंगे अथवा ठण्ड से सिकुड़ जायेंगे। मेरे पास पैसे हैं, चलो मल्लाह के पास कुछ दे-दिवाकर उस गाँव में चलें। वहाँ रात बड़े आराम से कटेगी।"

अन्ततः वे नाव में बैठकर उस पार चले गये। रात्रि के समय पैसे वाले संन्यासी ने त्यागी संन्यासी को बहुत खरी-खोटी सुनाकर कहा, क्यों, अब तुम्हें द्रव्य के लाभ मालूम हुये, देखो पैसे से दोनों की जान बच गई। यदि मैं तुम्हारी तरह त्याग ही का अवलम्बन लेता तो या तो हम दोनों भूखों मरते, ठिठुर जाते अथवा मर जाते। त्यागी ने कहा, भाई त्याग ही से तो इस पार सुरक्षित पहुँचे। यदि पैसे जेब में भरे रहते और मल्लाह को न देते तो उसी पार पड़े रहते। मैं तो आपकी पाकेट को अपनी पाकेट समझता था। मैंने सोचा—मेरे पास पैसे हैं, न मेरे पाकेट में सही आप ही के पाकेट में सही। ऐसे-ऐसे विचारों से मुझे पैसों का कष्ट नहीं होता जब किसी बात की आवश्यकता होती है तो वह बस आप से आप पूरी हो जाया करती है। इस कहानी से इस बात की शिक्षा मिलती है कि जब तक आप अपनी इच्छाओं को अपने पास रखेंगे तब तक न तो आपको कुशल है और न आपको शान्ति ही मिल सकती है। इच्छाओं को छोड़ दो, आपको तुरन्त शान्ति मिल जायगी।

## आवश्यक निवेदन

अप्रेल-मई का यह संयुक्त अङ्क जून मास में आपकी सेवा में पहुँच रहा है जो कि नियमानुसार अप्रेल के प्रारम्भ में प्रभुजी की जयन्ती के अवसर पर आपको मिल जाना चाहिए था। 'सिद्धयोग' के प्रकाशन का जो क्रम पिछले २३ वर्षों से चला आ रहा था, गुरुदेवजी के ब्रह्मलीन हो जाने के कारण उसमें गहरा व्यवधान पड़ा।

चूंकि 'सिद्धयोग' की मुद्रण, कागज आदि की व्यवस्था का जो भार सवाई कार्यालय वहन करता रहा वह मार्च के बाद अपनी पूर्वरूपता नहीं रख सका। येन-केन प्रकारेण पुनः इसके प्रकाशन की व्यवस्था कर इसे प्रकाशित किया जा रहा है। अप्रेल और मई के महीने में 'सिद्धयोग' के अङ्क प्रकाशित नहीं हो सके। समय के इस अन्तराल को पूरा करने के लिए हम यह अङ्क संयुक्त अङ्क के रूप में निकाल रहे हैं। प्रकाशन के क्रम में आए अन्तराल को दूर करने के लिए ही इसे संयुक्त अङ्क (अप्रेल-मई) का रूप दिया गया है।

—व्यवस्थापक

अवश्य आइये !  अवश्य देखिये !

# योग-साधन आश्रम ऋषिकेश
## का
# वार्षिक योग महोत्सव

सभी गुरु भाई-बहिनों को यह जानकर हर्ष होगा कि सुप्रसिद्ध योग-साधन आश्रम ऋषिकेश का वार्षिक 'योग महोत्सव' ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी, नवमी, दशमी विक्रम् संवत् २०४८ तदनुसार तारीख १९, २०, २१ जून १९९१ ई० बुधवार, गुरुवार, शुक्रवार को होगा।

सदा की भाँति उत्सव का कार्यक्रम बहुत ही रोचक और उपयोगी बनाने का आयोजन किया गया है। उत्सव में योग-सिद्धान्तों पर उच्चकोटि के प्रवचन, उपदेश, भजन एवं सुमधुर शास्त्रीय संगीत आदि का कार्यक्रम रहेगा। यौगिक क्रियाओं के प्रदर्शन भी होंगे। सभी योग-प्रेमियों को इस समारोह में सम्मिलित होकर लाभ उठाना चाहिए।

२१ जून १९९१ दिन शुक्रवार गंगा दशहरा को नगर शोभायात्रा (जुलूस) का आयोजन है जिसमें बैण्ड बाजों के साथ विविध झाँकियों का आयोजन रहेगा। शोभा-यात्रा सायं ६ बजे योग साधन आश्रम से आरम्भ होकर ऋषिकेश के मुख्य बाजारों से होती हुई रात के ११ बजे आश्रम वापस पहुँचेगी। अतः सभी सत्संग प्रेमियों को उत्साह के साथ इस शोभा-यात्रा एवं समारोह में सम्मिलित होना चाहिए। आगन्तुकों को मौसम के अनुकूल अपने बिस्तर आदि अवश्य साथ लाने चाहिए।

संयोजक उत्सव—
योग साधन आश्रम
रेलवे रोड, ऋषिकेश (उ० प्र०)

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008, APRIL-MAY, 1991

प्रेषक कार्यालय :—

# सि|द्ध|यो|ग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री ..............................

## अन्तर्मुखता

अन्तर्मुखी होकर अपने भीतर ही विराजमान परमज्योति का संदर्शन करें, भीतर ही हमारे सुख और शान्ति का भण्डार है, भीतर ही सब कुछ है। बाहर तो व्यवहार जगत् है। बाहर के धन, भोग और यश भीतर के प्रकाश की तुलना में हेय एवं तुच्छ हैं। बाहर सुख के लिए न भटक कर, बाहर केवल क्रियाकलाप करते हुए, भीतर ही अपने आपको, अपने गुरु को तथा अपने परमेश्वर को देखने का प्रयत्न करो।

अपने भीतर के विशाल जगत् को प्रकाशित बिना किये हुए आप बाहर भटकते ही रहेंगे। अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी जीवनमें सामंजस्य होना चाहिए। जिसने, स्वान्त: (अन्त:करण) का समुचित मूल्यांकन कर, उसके अनुरूप आचरण करना प्रारम्भ कर दिया, उसके जीवन में सुख का उदय हो गया, जीवन एक सुख बन गया।

—श्री शिवानन्द

...क—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस,बसई कलाँ ताजगंज, आगरा । Ph. 360426